अधिकार सार्थक तभी हो सकता है जब समाज में आर्थिक विषमता न हो। यदि समाज में आर्थिक असमानता रहती है तो निर्धन वर्ग उच्च शिक्षा नहीं पा सकता और इस प्रकार उन योग्यताओं से वंचित रह जाता है जो कभी-कभी उच्च पद पर नियुक्ति के लिए आवश्यक होती है।

नोट

7. शासन-नीति की आलोचना का अधिकार—लोकतंत्रात्मक देशों में जनता को शासन-नीति की रचनात्मक आलोचना का अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए। रचनात्मक आलोचना का अभिप्राय यह है कि आलोचना तथ्यों पर आधारित होनी चाहिए केवल भावनाओं पर नहीं। शासक-वर्ग में अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी आलोचना सुनना पसंद नहीं करते। इस प्रवृत्ति से अधिनायकवाद का पथ प्रशस्त होता है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति ह्युज ने कहा है, "यदि हम अपने समाज और संस्थाओं को हिंसा व शक्ति के प्रहारों से सुरक्षित रखना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम जनता को स्वतंत्र भाषण, स्वतंत्र प्रेस और स्वतंत्र सभा के वैधानिक अधिकार दें, जिनसे स्वतंत्र राजनीतिक विचार-विमर्श के लिए अवसर मिल सके, सरकार लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी हो सके और यदि परिवर्तनों की आवश्यकता हो, तो वे शांतिपूर्ण साधनों से किए जा सकें। यही गणराज्य की सुरक्षा का साधन और वैधानिक शासन का आधार है।" यदि व्यक्ति शासन की प्रत्येक नीति को आँख मूँदकर ग्रहण करता है तो उसकी चिंतन शक्ति कुण्ठित हो जाती है और वह लोकतंत्र के योग्य नहीं रहता। नार्मन एंजेल के शब्दों में, "एक ओर तो अनुत्तरदायी शक्ति की आदत और दूसरी ओर मौन अधीनता अंततोगत्वा उस नैतिक वातावरण को असंभव बना देती है। जिसमें स्वशासन का सामान्य भाव जीवित रह सकता है और पनप सकता है।"

8. आर्थिक स्वतंत्रता—लोकतंत्र सच्चा तो तभी हो सकता है जबकि वह राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता दोनों पर समान रूप से निर्भर हो। लेनिन के शब्दों में, "राजनीतिक अथवा नागरिक स्वतंत्रता आर्थिक स्वतंत्रता के बिना बिल्कुल बेकार है। आर्थिक स्वतंत्रता वह नहीं है जिसे पूँजीपति "स्वतंत्र प्रतियोगिता" (free compition) के नाम से पुकारते हैं। आर्थिक स्वतंत्रता का अवसर हो कि वह अपने जीविकोपार्जन को पर्याप्त अर्थवत्ता दे सके अर्थात् मुझे बेकारी और अभाव के सतत् भय से, जो अन्य किन्हीं कमियों से नहीं बल्कि व्यक्तित्व को चाट जाती है, मुक्ति हो। आगामी कल की आवश्यकताओं के दानव से मेरी सुरक्षा होनी ही चाहिए। मुझे यह विश्वास होना चाहिए कि मैं एक घर बना सकता हूँ और उस घर को आत्माभिव्यक्ति का माध्यम अपना सकता हूँ। मुझे इस योग्य होना चाहिए कि मैं सेवाओं के उत्पादक के रूप मे अपने प्रयत्नों में अपने व्यक्तित्व का आभास दे सकूँ और उसी प्रयत्नों में समृद्धि पाऊँ। यदि मनुष्यों को इस तरह की स्वतंत्रताएँ नहीं मिलती तो वे उस युग के दासों से कुछ कम नहीं सच्चे अर्थों में दास जब वह खरीद और बेच के लिए बाजार में खड़े किए जाते थे।"

9. राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)—राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक राष्ट्र को इस बात का अधिकार है कि वह अपना शासन जिस तरह से करना चाहे कर सकता है। बाहर की किसी शक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे देश पर अपनी प्रभुता स्थापित करें। यह कोई भी देश नहीं चाहता कि वो दूसरे देश की अधीनता में रहे। यही कारण है कि जब भी कोई देश परतंत्र हो जाता है। तब वह स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयास करता है और बड़े-से-बड़े त्याग करने के लिए प्रस्तुत रहता है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का विचार हाल की उत्पत्ति है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह विचार फ्रांस की राज्यक्रांति के पश्चात् ही शक्तिशाली हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के कई देशों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त की। 1833 में यूनान तुर्की के आधिपत्य से मुक्त हो गया। कहा जाता है कि प्रथम महायुद्ध अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सिद्धांत के आधार पर ही लड़ा गया था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में पश्चिम के शक्तिशाली देशों ने एशिया और अफ्रीका के दुर्बल देशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अब इतिहास करवट बदल रहा है और एशिया तथा अफ्रीका के प्रायः सभी देश एक-एक कर स्वतंत्र हो गए हैं।

8.6. स्वतंत्रता और कानून (Liberty and Law)

कानून और स्वतंत्रता के संबंध में आदर्शवादियों का मत—कानून और स्वतंत्रता के संबंध में दो परस्पर-विरोधी विचार मिलते हैं। पहला विचार आदर्शवादियों (Idealists) का है। ये विचारक कानून और स्वतंत्रता का तभी उपभोग कर सकते हैं जब वे राज्य के आदेशों का चुपचाप पालन करते रहें। आदर्शवादियों की दृष्टि में राज्य संपूर्ण स्वतंत्रता और नैतिकता का मूल है। अतः राज्य का कोई भी आदेश नैतिकता या स्वतंत्रता के प्रतिकूल नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति स्वतंत्रता का उपभोग करना चाहता है, तो उसके लिए

नोट

यह अभीष्ट है कि वह अपनी निजता को राज्य के अंदर अधिकाधिक विलीन कर दें। कानून और स्वतंत्रता के इस संबंध पर आदर्शवादी विचारकों ने काफी लिखा है। उदाहरण के लिए अरस्तू (Aristotle) ने कहा है, "मनुष्य अपनी पूर्णता में प्राणधारियों में सर्वश्रेष्ठ है। परंतु जब वह कानून तथा न्याय से पृथक् हो जाता है। तब वह सबसे निकृष्ट बन जाता है। अरस्तू के इस कथन से यह स्पष्ट है कि वह केवल राज्य में ही राज्य के कानूनों के अंतर्गत ही मानवीय गुणों का पूर्ण प्रस्फुटन संभव मानता था। आधुनिक काल के अनेक विचारकों ने भी इस मत को पुष्ट किया है। राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक संविदा (Social Contract) सिद्धांत के प्रतिपादकों का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य नितांत जंगलीपन की दशा में रहता था। मनुष्य का सभ्य जीवन राज्य की उत्पत्ति के पश्चात् ही संभव हुआ है। हींगल राज्य को स्वतंत्रता का मूर्त रूप मानता है। यद्यपि अंग्रेज विचारक ग्रीन (Green) आदर्शवादियों में सबसे अधिक व्यक्तिवादी है, लेकिन स्वतंत्रता के लिए राज्य को एवं उसके कानूनों को उसने भी आवश्यक ठहराया है। बोसांके का भी यही विचार है।

8.7. भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की अवधारणा (The Concept of Liberty in Indian Constitution)

भारतीय संविधान की उद्देशिका में स्वतंत्रता की सकरात्मक कल्पना प्रस्तुत की गई है। यह विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता है। संविधान का अनुच्छेद–19 भारत के नागरिकों को यह बुनियादी स्वतंत्रताएँ देता है। ये स्वतंत्रताएँ हैं–(1) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (2) बिना हथियारों के शांतिपूर्वक सम्मेलन करने की स्वतंत्रता (3) संगत बनाने की स्वतंत्रता (4) भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र आने-जाने की स्वतंत्रता (5) भारत के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतंत्रता, और (6) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता। ये स्वतंत्रताएँ प्रत्येक नागरिक को सुलभ हैं और उसके नैसर्गिक अधिकार हैं। भारतीय न्यायालयों ने इन स्वतंत्रताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य स्वतंत्रताओं का भी उल्लेख किया है : जीवित रहने की स्वतंत्रता, मतदान करने तथा चुनाव लड़ने की स्वतंत्रता, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता, सरकारी कर्मचारियों का नौकरी में बने रहने का अधिकार, हड़ताल करने का अधिकार, जानकारी प्राप्त करने का अधिकार आदि। ये स्वतंत्रताएँ असीमित नहीं हैं। इन्हें वृहत्तर सामाजिक हितों के अधीन माना गया है। सरकार भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध, लोक-व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित, न्यायालय की अवमानना, मानहानि या अपराध के लिए प्रोत्साहन के संबंध में उचित कानून बनाकर नागरिकों की स्वतंत्रताओं पर युक्तियुक्त प्रतिबंध आरोपित कर सकती है।

संविधान ने "युक्तियुक्त प्रतिबंध" पद की व्याख्या नहीं की है। इसलिए, प्रत्येक मामले का निर्णय उसके गुणावगुण के आधार पर ही हो सकती है।

1. भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतंत्र की आवश्यक शर्त है। न्यायमूर्ति पतंजलि शास्त्री ने इसका आशय स्पष्ट करते हुए कहा है–मुक्त राजनीतिक विचार-विमर्श के अभाव में कोई भी सार्वजनिक शिक्षा-संभव नहीं है।"

2. राज्य की सुरक्षा–राज्य की सुरक्षा लोक अव्यवस्था के गंभीर रूपों की ओर संकेत करती है। विद्रोह, राज्य के विरुद्ध युद्ध, बगावत आदि से राज्य को खतरा हो सकता है और इसका निवारण करने के लिए सरकार विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगा सकती है।

3. विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर यह प्रतिबंध संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम,1951 ने लगाया था। इस उपबंध की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इसके फलस्वरूप सरकार की विदेश नीति की आलोचना पर भी रोक लगाई जा सकती है।

4. लोक-व्यवस्था–उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि लोक-व्यवस्था के साधारण उल्लंघनों के आधार पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। लोक-व्यवस्था पद के व्यापक ध्वनितार्थ हैं। इसका अर्थ शांति की वह स्थिति है जो सरकार द्वारा प्रवर्तित आंतरिक विनियमों के परिणामस्वरूप राजनीतिक समाज के सदस्यों में पाई जाती है।

छात्र क्रियाकलाप

1. स्वतंत्रता और कानून को परिभाषित कीजिए।

2. भारत संविधान के अनुच्छेद-19 में भारत के नागरिकों को कौन-कौन सी बुनियादी स्वतंत्रताएँ दी हैं?

नोट

5. शिष्टाचार तथा सदाचार–शिष्टाचार तथा सदाचार के उल्लंघन के आधार पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर इसलिए प्रतिबंध लगाया जा सकता है ताकि समाज को दूषित तथा भ्रष्ट व्यवहार से बचाया जा सके।

6. न्यायालय की अवमानना–संविधान के अनुच्छेद–129 तथा 215 उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को उनकी अवमानना के लिए दंड देने का अधिकार देते हैं। उच्चतम न्यायालय ने यह माना है कि यदि न्यायपालिका की सद्भावनापूर्ण रीति से आलोचना की जाए तो वह युक्तिसंगत मानी जाएगी। किसी न्यायाधीश के न्यायिक कार्य संबंधी आचरण पर भी उचित और न्यायसंगत टिप्पणी देना ठीक होगा। न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 ने न्यायालय अवमानना के संबंध में भारतीय विधियों का संहिताकरण किया है।

7. मानहानि–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से किसी व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति की मानहानि करने का अधिकार नहीं मिल जाता। भारतीय दंड संहिता की धारा 499 में मानहानि की व्यवस्था की गई है। किसी व्यक्ति को घृणा, मजाक या तिरस्कार का पात्र बनाकर पेश करना मानहानि है।

8. अपराध के लिए प्रोत्साहन–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का यह आधार 1951 में जोड़ा गया था। उच्चतम न्यायालय की राय है कि हिंसक अपराधों को प्रोत्साहन देने पर राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। यदि इस आधार पर भाषण और स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबंध लगाया जाए तो वह विधिमान्य होगा।

9. भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता–संविधान के सोलहवें (1963) अनुच्छेद ने भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता के लिए खतरा होने पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने की स्वीकृति दी है।

10. सम्मेलन की स्वतंत्रता–सभाओं, जलूसों और प्रदर्शनों द्वारा लोकमत को प्रशिक्षित किया जाता है। संविधान ने लोगों को बिना हथियारों के शांतिपूर्वक सम्मेलन करने का अधिकार दिया है।

11. संघ की स्वतंत्रता–यद्यपि संविधान ने नागरिकों को संघ बनाने की स्वतंत्रता दी है, लेकिन स्वतंत्रता पर भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता, लोक-व्यवस्था या सदाचार के हितों में युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। राजनीतिक दल, समितियाँ, क्लब, कंपनियाँ, मजदूर संघ आदि संस्थाएँ संघों की श्रेणी में आती हैं। मजदूर संघों को हड़ताल करने के निर्बाध अधिकार प्राप्त नहीं हैं। इस अधिकार पर औद्योगिक विधान द्वारा प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

12. सर्वत्र आने-जाने और निवास की स्वतंत्रता–भारतीय संविधान ने भारतीय नागरिकों को भारत के राज्यक्षेत्र में अबाध रूप से आने-जाने के अधिकार और भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने तथा बस जाने के अधिकार की गारंटी दी है। लकिन जन साधारण के हितों में या किसी अनुसूचित जनजाति के हितों की रक्षा के लिए इस अधिकार के प्रयोग पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए प्रतिबंध लगाने का उद्देश्य उनकी विशिष्ट भाषा और संस्कृति की रक्षा करना है। यदि उनके इलाके में बाहर के लोगों को बेरोकटोक आने दिया जाए तो उनके हित खतरे में पड़ सकते हैं। न्यायालयों ने वेश्याओं, अभ्यस्त अपराधियों और एड्स से पीड़ित लोगों के आने-जाने पर भी प्रतिबंध लगाना विधिमान्य माना है।

13. वृत्ति तथा व्यापार की स्वतंत्रता–संविधान के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक को कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार है। किसी भी नागरिक को उसकी इच्छा के विरुद्ध कारोबार करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता के विभिन्न अधिकारों की भाँति यह अधिकार भी निर्बाध नहीं है और राज्य जनसाधारण के हित में इस अधिकार पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगा सकता है। उदाहरण के लिए नशीली दवाओं और मिलावटी खाद्य पदार्थों का व्यापार वर्जित है।

14. जीवन तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का संरक्षण–किसी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा उसके जीवन या उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि जीवित रहने का अधिकार केवल शारीरिक अस्तित्व तक सीमित नहीं है। इसमें मानवीय गरिमा के साथ जीवित रहने का अधिकार भी सम्मिलित है। न्यायालय ने यह भी कहा कि श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान न करना उन्हें जीवित रहने के अधिकार से वंचित करना है।

15. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार–भारतीय संविधान की उद्देशिका में भारत को पंथ-निरपेक्ष गणराज्य घोषित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है। वह सभी धर्मों के

प्रति समान आदर की दृष्टि रखता है। अनुच्छेद–25 का उपबंध है कि सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतंत्रता है। धर्म का प्रचार करने के अधिकार में बलात् धर्म-परिवर्तन का अधिकार सम्मिलित नहीं है। अनुच्छेद–26 में सभी धार्मिक संप्रदायों को यह अधिकार दिया गया है कि वे धार्मिक प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और उनका पोषण कर सकते हैं। संविधान राज्य निधि से पोषित शैक्षिक संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का प्रतिरोध करता है। राज्य से मान्यता तथा सहायता प्राप्त संस्थाओं में प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक शिक्षा या उपासना में उपस्थित न होने की स्वतंत्रता हैं।

नोट

8.8. सारांश (Summary)

स्वतंत्रता का अभिप्राय–स्वतंत्रता के अनेक अर्थ हैं। नकारात्मक दृष्टि से स्वतंत्रता कानून की अनुपस्थिति है। सकारात्मक अर्थ में स्वतंत्रता उस वातावरण को तत्पर भाव से बनाए रखने का नाम है जिसमें व्यक्ति अपने अधिकतम आत्म-विकास के अवसर पा सकें।

हॉब्स (Hobbes), लॉक (Lock), मॉंटेस्क्यू (Montesquieu), लास्की (Laski), हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer), रैम्जे म्योर (Ramsay Muir), लॉर्ड एक्टन (Lord Acton), रौकी (Rocke) और जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) आदि विचारकों ने स्वतंत्रता के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। संक्षेप में स्वतंत्रता में निम्न बातें निहित हैं–(1) कानून के अंतर्गत अधिकाधिक स्वतंत्रता, (2) सबको समान स्वतंत्रता, और (3) सभी व्यक्तियों को अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों के सर्वांगीण विकास की समान सुविधाएँ।

स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता–सिंडिकलिस्ट, अराजकतावादी और व्यक्तिवादी विचारक राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच विरोध मानते हैं। लेकिन उनकी यह धारणा सही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध हैं और वे काफी हद तक एक दूसरे के पूरक हैं।

स्वतंत्रता का उपभोग केवल सभ्य समाज में ही संभव है। स्वतंत्रता के साथ कुछ बंधन भी लगे हुए हैं। मनुष्य सिर्फ मर्यादित स्वतंत्रता का ही उपभोग कर सकते हैं। उनकी स्वतंत्रता से दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होना चाहिए। साथ ही स्वतंत्रता समाज में ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। इस परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता के निर्माण और उसकी रक्षा के लिए राज्य की प्रभुसत्ता अनिवार्य है।

स्वतंत्रता और कानून–आदर्शवादी विचारकों के अनुसार व्यक्ति स्वतंत्रता का तभी उपभोग कर सकते हैं जबकि वे राज्य के आदेशों का चुपचाप पालन करते रहें। आदर्शवादियों की दृष्टि में राज्य संपूर्ण स्वतंत्रता और नैतिकता का मूल है।

स्वतंत्रता और कानून को एक दूसरे से अभिन्न मानना अनुचित है। इस सिद्धांत की आड़ में राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का नाश कर सकता है।

कानून और स्वतंत्रता के संबंध में व्यक्तिवादियों और अराजकतावादियों का मत आदर्शवादियों के मत से उल्टा है। इस मत के अनुसार कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाता है। इस विचारधारा का दोष यह है कि इसमें कानून के निषेधात्मक पक्ष पर बल दिया गया है। भले ही कानून स्वतंत्रता की सृष्टि न करते हों वे उसकी व्याख्या और रक्षा अवश्य करते हैं।

स्वतंत्रता के भेद–स्वतंत्रता के पाँच भेद हैं–(1) प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural liberty), (2) नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty), (3) राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty), (4) आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Liberty) और (5) राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)।

प्राकृतिक स्वतंत्रता–प्राकृतिक स्वतंत्रता के तीन अर्थ हैं। इसका पहला अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की छूट। इसका दूसरा अर्थ वह स्वतंत्रता है जिसका मनुष्य सामाजिक और राजनीतिक संगठन का जन्म होने से पहले प्रयोग करता था। सामाजिक संविदा सिद्धांत के तीन प्रमुख विचारकों हॉब्स, लॉक और रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का अलग-अलग चित्र अंकित किया है। प्राकृतिक अवस्था का तीसरा अर्थ यह समझा जाता है कि स्वतंत्रता मनुष्य के लिए उसी प्रकार प्राकृतिक या स्वाभाविक है जिस प्रकार कि साँस लेना या भूख लगना।

नोट

नागरिक स्वतंत्रता–नागरिक स्वतंत्रता का अर्थ उन अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं से है जिनका मनुष्य सभ्य समाज के सदस्य के नाते उपभोग करता है। विचार और भाषण की स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता और संपत्ति के धारण, व्ययन और अर्जन की स्वतंत्रता नागरिक स्वतंत्रताएँ हैं। नागरिक स्वतंत्रता भी अमर्यादित नहीं होती। प्रत्येक राज्य अपने पास यह अधिकार सुरक्षित रखता है कि वह असाधारण परिस्थितियों में नागरिक स्वतंत्रताओं को स्थगित कर सकता है।

राजनीतिक स्वतंत्रता–राजनीतिक स्वतंत्रता में निम्नलिखित बातों को शामिल किया जाता है– (1) प्रतिनिधियों के चुनने अथवा मतदान में भाग लेने का अधिकार, (2) निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार (3) सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार, और (4) सरकार के कार्यों की रचनात्मक आलोचना करने का अधिकार।

आर्थिक स्वतंत्रता–आर्थिक स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को जीविका-उपार्जन की सुविधा होनी चाहिए और उसे अभाव तथा अनर्हता की दशाओं में छूट मिलनी चाहिए।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता–राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना शासन आप करने का अधिकार है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वतंत्रता का विचार फ्रांस की राजक्रांति के बाद उभरा है।

(1) बिना हथियार के शांतिपूर्वक सम्मेलन करने की स्वतंत्रता, (2) संगत बनाने की स्वतंत्रता, (3) भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र आने जाने की स्वतंत्रता, (4) भारत के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतंत्रता और (5) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता।

8.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. स्वतंत्रता के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।
2. स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता को विवेचित कीजिए।
3. स्वतंत्रता के कितने भेद हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. 'स्वतंत्रता और कानून' के बारे में अरस्तू के विचार प्रकट कीजिए।
5. भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की क्या अवधारणा है? उल्लेख कीजिए।

❑❑❑

अध्याय-9

न्याय
(Justice)

नोट

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

9.1. उद्देश्य (Objectives)
9.2. परिचय (Introduction)
9.3. न्याय का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Justice)
9.4. न्याय की संकल्पना का विकास (Concepts to Development of Justice)
9.5. न्याय के सार्वलौकिक तत्व (Universal Postulates of Justice)
9.6. न्याय की उदारवादी तथा मार्क्सवादी धारणाएँ (Liberal and Marxist Theories of Justice)
9.7. न्याय के विविध रूप (Various Forms of Justice)
9.8. न्याय तथा स्वतंत्रता में संबंध (Relationship between Justice and Liberty)
9.9. भारतीय संविधान में न्याय की व्यवस्था (Management of Justice in Indian Constitution)
9.10. सारांश (Summary)
9.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

9.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- न्याय के अर्थ, परिभाषा एवं क्षेत्र को समझने में;
- न्याय के सार्वलौकिक तत्व को जानने में;
- न्याय के विविध रूपों को समझने में;
- न्याय एवं स्वतंत्रता में संबंध को जानने में;
- भारतीय संविधान में न्याय-व्यवस्था को समझने में।

9.2. परिचय (Introduction)

राजनीतिक संकल्पनाओं में न्याय की संकल्पना को विशेष महत्त्व प्राप्त है। प्राचीनकाल से ही न्याय की संकल्पना राजनीतिक चिंतन का एक प्रमुख विषय रही है। वस्तुतः मानव सभ्यता के उदय और विकास के साथ ही न्याय की संकल्पना मानव समाज के चिंतन का मुख्य बिंदु रही है। न्याय के अभाव में मानव समाज के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। लार्ड ब्राइस के अनुसार, "अगर राज्य में न्याय का दीपक बुझ जाए तो अंधेरा कितना घना होगा, इसकी कल्पना नहीं कर सकते।" इस प्रकार न्याय सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण आधार है।

नोट

9.3. न्याय का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Justice)

हिंदी भाषा का शब्द 'न्याय' अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Justice' का हिंदी रूपान्तरण है। किंतु अंग्रेजी भाषा का 'Justice' शब्द अपने आप में मूल शब्द नहीं है। क्योंकि इसकी उत्पति लैटिन भाषा के शब्द 'Justice' से हुई है जिसका अर्थ है जोड़ना, बाँधना अथवा ग्रंथि लगाना। इस आधार पर न्याय का अभिप्राय उस व्यवस्था से है जो व्यक्तियों, समुदायों, समूहों अथवा संकल्पनाओं को एक सूत्र में बाँधती है। किसी व्यवस्था को बनाए रखना ही न्याय है। क्योंकि कोई भी व्यवस्था किन्हीं तत्वों को एक-दूसरे के साथ जोड़ने के बाद ही बनती अथवा पनपती है।

न्याय की संकल्पना की कुछ महत्त्वपूर्ण लेखकों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

1. सी. ई. मेरियम के अनुसार, "न्याय उन मान्यताओं तथा प्रक्रियाओं का योग है जिनके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को वे सभी अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।
2. रेफ़ेल के शब्दों में, "न्याय का विचार समाज की सामान्य व्यवस्था से संबद्ध है।"
3. काहन के अनुसार, "न्याय का अर्थ संपूर्ण गुण तथा नैतिक आचरण के स्वीकृत ढाँचे के अनुकूल आचरण से है।"
4. बैन तथा पीटर्स के अनुसार, "न्याय का अर्थ यह है कि जब तक भेद-भाव किए जाने का कोई उचित कारण न हो तब तक सभी व्यक्तियों से समान व्यवहार किया जाए।"

निष्कर्ष–उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि न्याय का सिद्धांत अपने स्वरूप में समाज के अंतर्गत होता है। समाज से बाहर न्याय की संकल्पना के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। न्याय न केवल समाज में व्यवस्था पर जोर देता है वरन् अधिकार तथा दायित्वों के निर्धारण का भी प्रयत्न करता है।

9.4. न्याय की संकल्पना का विकास (Concepts to Development of Justice)

पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारणा को विशेष महत्त्व दिया गया है। न्याय की संकल्पना के विकास का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. भारतीय राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारण का विकास–अति प्राचीनकाल से ही भारतीय दर्शन में न्याय के विचार को महत्त्व प्रदान किया जाता रहा है। मनु, बृहस्पति, शुक्र, सोमदेव, कौटिल्य आदि विचारकों ने राज्य की व्यवस्था में न्याय के विचार को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। प्राचीन भारतीय चिंतक कौटिल्य का कहना था कि न्याय राज्य का प्राण होता है और जो राज्य अपनी प्रजा के लिए न्याय की व्यवस्था नहीं करता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

2. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारण का विकास–पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारणा का सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन प्लेटो के राजनीतिक दर्शन में देखा जा सकता है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में न्याय के विचार को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया कि उसका उपशीर्षक ही 'न्याय से संबंधित' रखा गया है। प्लेटो के समय यूनान में न्याय के संबंध में परंपरावादी, क्रांतिकारी और व्यवहारवादी तीन प्रकार के सिद्धांत प्रचलित थे। इन तीनों सिद्धांतों में कुछ कमियाँ थीं। प्लेटो ने इन तीनों सिद्धांतों का खंडन करने के बाद रिपब्लिक में अपने न्याय सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

बार्कर के अनुसार, "न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्त्तव्य का पालन जो उसके प्राकृतिक गुणों और सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की अपने धर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।"

प्लेटो ने न्याय शब्द का कानूनी अर्थ में नहीं बल्कि नैतिक अर्थ में प्रयोग किया है। उसने न्याय के व्यक्तिगत तथा सामाजिक दो रूप बताए हैं। व्यक्तिगत रूप में न्याय का अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति में विचार, भावनाएँ तथा इच्छाएँ पाई जाती हैं। इनमें समन्वय बना रहना वैयक्तिक न्याय या मानवीय सद्गुण है। न्याय एक सामाजिक गुण भी है। क्योंकि इसके माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों में समन्वय अथवा सामंजस्य उत्पन्न होता है।

प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी न्याय को राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। किंतु दोनों के स्वरूप में कुछ भिन्नता है। अरस्तू न्याय को सद्गुणों का समूह मानता है। प्रत्येक व्यक्ति के न्यायप्रिय होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे। अरस्तू ने न्याय के वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) तथा सुधारात्मक न्याय (Coercive or Rectificatory Justice) दो रूप बताए हैं। वितरणात्मक न्याय का अर्थ है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों अथवा पुरस्कारों का बँटवारा न्यायपूर्ण रीति से करे। सुधारात्मक न्याय का अर्थ है कि एक नागरिक से दूसरे नागरिक के संबंध को नियंत्रित करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखा जाए।

नोट

संत ऑगस्टाइन ने न्याय को 'ईश्वरीय राज्य' (City of God) का महत्त्वपूर्ण तत्व माना है। उसका कहना था कि व्यवस्था के प्रति अनुकूलता और इससे उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों का पालन न्याय है। ऑगस्टाइन ने परिवार, लौकिक राज्य तथा ईश्वरीय राज्य के संदर्भ में न्याय के विचार का विवेचन किया है। उसका कहना था कि अंतिम रूप में न्याय का अभिप्राय ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्त्तव्यों के पालन से है।

9.5. न्याय के सार्वलौकिक तत्व (Universal Postulates of Justice)

कुछ ऐसे तत्व हैं जो न्याय के साथ सदैव बने रहते हैं। ये तत्व न्याय के सार्वलौकिक तत्व कहलाते हैं। न्याय के इन सार्वलौकिक अथवा सार्वभौमिक तत्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. सत्य–सत्य न्याय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। सत्य तथा न्याय का घनिष्ठ संबंध होता है। न्याय सत्य में दृष्टिगोचर होता है। झूठ से न्याय का कोई संबंध नहीं होता। न्याय के उचित प्रशासन के लिए तथ्यों की सत्यता आवश्यक होती है।

2. मूल्यों के आधारभूत क्रम की समानता–इसका अभिप्राय है कि विभिन्न मामलों के संबंध में विचार करते समय न्याय की एक ही धारणा को लागू किया जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि एक मामले में न्याय की एक धारणा को और दूसरे मामले में न्याय की किसी अन्य धारणा को लागू किया जाता है तो सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण होगा।

3. समानता की भावना–समानता की भावना का अभिप्राय क़ानून के समक्ष समानता से है। न्याय में समानता का भाव स्वाभाविक रूप से निहित होता है। इसका अर्थ है कि कानून के अनुसार सभी व्यक्तियों के साथ एक समान व्यवहार होना चाहिए। कानून किसी व्यक्ति के साथ जाति, धर्म, वंश, लिंग आदि के आधार पर भेद-भाव न करे।

4. स्वतंत्रता–व्यक्ति की स्वतंत्रता पर सामाजिक हित को छोड़कर अन्य आधारों पर प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिए।

5. असहायों तथा कमजोर व्यक्तियों के साथ उचित व्यवहार–न्याय का एक प्रमुख सार्वभौमिक तत्व असहायों, प्राकृतिक एवं सामाजिक रूप से कमजोर व्यक्तियों के हितों की रक्षा करना है। न्याय की माँग है कि असहायों तथा कमजोर व्यक्तियों के साथ उचित व्यवहार किया जाए।

6. प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान–कोई भी व्यक्ति अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य कर सकता है। अतः किसी भी व्यक्ति को अपनी क्षमता के बाहर कार्य करने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कार्य करने के लिए विवश किया जाता है, जो कि उसकी सामर्थ्य के बाहर महत्त्वपूर्ण पहलू है–

1. सांख्यिक (Numerical)–न्याय के सांख्यिक पहलू का अर्थ है कि न्याय सबको समान मिलना चाहिए। उपयोगतावादी विचारक जेरमी बेंथम ने कहा था कि "प्रत्येक व्यक्ति को एक समझा जाए तथा किसी को भी एक से अधिक न समझा जाए।" प्राचीन यूनान के कुछ नगर राज्यों में यह पहलू इतना अधिक प्रचलित था कि सार्वजनिक पद पास डाल कर दिए जाते थे। इससे स्पष्ट है कि सांख्यिक न्याय में किसी सार्वजनिक पद की प्राप्ति के लिए किसी विशेष योग्यता अथवा ज्ञान को आवश्यक नहीं समझा जाता।

2. ज्यामितीय (Geometrical)–ज्यामितीय न्याय का अभिप्राय है कि समान व्यक्तियों को समान तथा असमान को असमान समझा जाए। ज्यामितीय न्याय में योग्यता, ज्ञान तथा अनुभव जैसे गुणों के आधारों पर बल दिया जाता है। ज्यामितीय न्याय की धारणा है कि लोगों को अपने से संबंधित कार्यों को करना चाहिए।

उदाहरण के लिए किसान का कार्य खेती करना है। यदि किसान खेती करता है तो यह न्याय है। लेकिन यदि वह व्यापार करता है तो यह न्याय नहीं है। ज्यामितीय न्याय का एक अन्य पहलू वितरणकारी पहलू है, जिसके अनुसार शासन करने की शक्ति उनको दी जानी चाहिए, जिन्हें शासन करना आता हो।

नोट

3. संरक्षात्मक (Protective)—संरक्षात्मक न्याय विशेष वर्गों एवं समुदायों के संरक्षण का समर्थन करता है। उदाहरण के लिए यदि राज्य कमजोरों की सहायता करके उन्हें अन्य लोगों के समान लाने का प्रयत्न करता है तो यह संरक्षात्मक न्याय है। जॉन रॉल ने न्याय के इस विचार का समर्थन किया है।

9.6. न्याय की उदारवादी तथा मार्क्सवादी धारणाएँ (Liberal and Marxist Theories of Justice)

न्याय के अर्थ, स्वरूप तथा लक्ष्य के विषय में उदारवादी लेखकों के विचारों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। जॉन लॉक ने प्राकृतिक कानून की व्यवस्था को न्याय कहा। लॉक ने समानता, औचित्यपूर्णता आदि को न्याय के साथ जोड़ा। लॉक का कहना था कि यदि लोग परिश्रम करके अधिक लाभ कमाते हैं तो यह न्याय है। लेकिन यदि परिश्रमी लोगों को आलसी लोगों के समान कर दिया जाए तो यह अन्याय होगा।

जेरमी बेंथम ने न्याय को अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के रूप में पारिभाषित किया। वह न्याय को लोकतांत्रिक व्यवस्था से संबंधित मानता था।

आधुनिक उदारवादी विचारक राज्य द्वारा शोषण युक्त तथा अन्याय प्रेरित विषमताओं को दूर करने तथा लोगों की मौलिक आवश्कयताओं की पूर्ति को न्याय मानते हैं।

जॉन रॉल के अनुसार न्याय विषमताओं के दायरे में कमजोर से कमजोर को प्राप्त मानता है। उनके अनुसार लोक-कल्याणकारी राज्य न्याय को प्रोत्साहन देता है। किंतु नॉजिक तथा हेयक जैसे समकालीन उदारवादी विचारकों ने न्याय को वैयक्तिक हित के रूप में स्पष्ट किया है।

न्याय की मार्क्सवादी धारणा उदारवादी धारणा से भिन्न है। मार्क्सवादी विचारकों ने न्याय को वर्गविहीन व्यवस्था के साथ जोड़ा है। मार्क्सवादियों का मानना है कि वर्ग विभेद वाले समाज में न्याय का अस्तित्व संभव नहीं है। कार्ल मार्क्स का कहना था कि न्याय का अस्तित्व वहीं संभव है, जहाँ कोई शोषण न हो। ऐसी स्थिति केवल एक वर्गविहीन समाज में ही संभव है। इसलिए केवल एक वर्गविहीन न्याय उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार उदारवादियों तथा मार्क्सवादियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से न्याय की संकल्पना की व्याख्या की है।

9.7. न्याय के विविध रूप (Various Forms of Justice)

न्याय के विविध पक्ष होते हैं। न्याय के इन विविध पक्षों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है—

1. नैतिक न्याय (Moral Justice)—राजनीतिक चिंतन में परंपरागत रूप से न्याय के नैतिक स्वरूप को अपनाया जाता रहा है। नैतिक न्याय इस विचार पर आधारित है कि कुछ ऐसे सामान्य अथवा आधारभूत नियम होते हैं जोकि अपने स्वरूप में सर्वव्यापक तथा अपरिवर्तनीय होते हैं। इन प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन बिताना नैतिक न्याय है। सत्य बोलना, अपने दायित्वों का उचित प्रकार से पालन करना, सहयोग एवं उदारता की भावना के अनुसार कार्य करना ऐसे प्राकृतिक नियमों के कुछ उदाहरण हैं। जब मनुष्य इन नियमों के अनुसार आचरण तथा व्यवहार करता है तो वह नैतिक न्याय होता है, लेकिन जब वह इनके विपरीत आचरण करता है तो वह आचरण नैतिक न्याय के विरुद्ध आचरण माना जाता है।

2. कानूनी न्याय (Legal Justice)—न्याय तथा कानून में घनिष्ठ संबंध है। ऑगस्टाइन का कहना था कि "यदि न्याय को पृथक् कर दिया जाए तो राज्य एक लुटेरे की संपति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" कानूनी न्याय के आधार व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून होते हैं। यदि कोई इन कानूनों को नहीं मानता है अथवा इन कानूनी न्याय के दो मुख्य अर्थ हैं—(1) कानूनों का निर्माण न्यायोचित होना चाहिए (2) कानूनों को न्यायोचित ढंग से लागू किया जाना चाहिए।

कानूनी न्याय के प्रथम अर्थ के अनुसार राज्य विधानमंडल द्वारा बनाए गए कानून न्यायसंगत तथा तर्कसंगत होने चाहिए। द्वितीय अर्थ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष न्याय तथा कानून का एक समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

छात्र क्रियाकलाप

1. न्याय के सार्वलौकिक तत्वों का वर्णन कीजिए।

2. न्याय के विविध रूपों का उल्लेख कीजिए।

नोट

3. राजनीतिक न्याय (Political Justice)–राजनीतिक न्याय का अभिप्राय है कि सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए, अर्थात् राज्यसत्ता में जनता की भागीदारी ही राजनीतिक न्याय है।

सार्वजनिक वयस्क मताधिकार, समान नागरिक स्वतंत्रताएँ, कानूनों का शासन, लोकतंत्रिकरण, शक्तियों के विकेंद्रीकरण आदि साधनों के उचित क्रियान्वयन द्वारा राजनीतिक न्याय की प्राप्ति संभव होती है।

4. सामाजिक न्याय (Social Justice)–सामाजिक न्याय का अभिप्राय है कि व्यक्ति तथा व्यक्ति के मध्य सामाजिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन बिताने के लिए उचित परिस्थितियाँ उपलब्ध होनी चाहिए। इस दृष्टि से समाज की राजनीतिक सत्ता का दायित्व है कि वह अपने वैधानिक तथा प्रशासनिक कार्यक्रमों का इस तरह से संचालन करे कि एक ऐसे समतापूर्ण समाज की स्थापना हो सके जिसमें सभी व्यक्तियों को अपने विकास के उचित अवसर प्राप्त हो सकें।

5. आर्थिक न्याय (Economic Justice)–आर्थिक न्याय, आर्थिक विषमता अथवा आर्थिक शोषण के उन्मूलन पर आधारित है। वस्तुतः आर्थिक न्याय का अभिप्राय है कि समाज में व्यक्तियों के मध्य आर्थिक आधार पर ऐसा भेद-भाव नहीं होना चाहिए कि व्यक्तियों का एक वर्ग अर्थात् धनी वर्ग अन्य व्यक्तियों के श्रम का शोषण करने लगे। आर्थिक न्याय की अवधारणा समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के आर्थिक शोषण का विरोध करती है। यह अवधारणा समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धांत का समर्थन करती है तथा इस बात पर बल देती है कि समाज में सभी व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्राप्त होने चाहिए। इसके साथ ही अमीर तथा गरीब के अंतर को कम किया जाना चाहिए। क्योंकि इसके द्वारा ही समाज में सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक न्याय का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

9.8. न्याय तथा स्वतंत्रता में संबंध (Relationship between Justice and Liberty)

न्याय तथा स्वतंत्रता में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। लेकिन यदि स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों के अभाव से लिया जाता है तो इससे न्याय की अपेक्षा अन्याय को बल मिलता है। सभी बंधनों के अभाव से अन्याय का जन्म होता है, न्याय का नहीं। क्योंकि न्याय नियमों, कानूनों, उचित प्रकार के बंधनों की उपस्थिति में पोषित होता है। वस्तुतः स्वतंत्रता सभी प्रकार के बंधनों का अभाव नहीं है बल्कि यह उचित बंधनों की व्यवस्था है। स्वतंत्रता का अर्थ ऐसे वातावरण के अस्तित्व से है जहाँ व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के विकास का उचित अवसर प्राप्त होता है। स्वतंत्रता असीमित तथा अनियंत्रित नहीं होती बल्कि सीमित तथा मर्यादित होती है। न्याय की अवधारणा स्वतंत्रता को व्यापक बनाने पर बल देती है और इस दृष्टि से व्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए उचित प्रतिबंधों का समर्थन करती है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति को असीमित स्वतंत्रता प्रदान की जाती है तो उसकी स्वतंत्रता अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। क्योंकि व्यक्ति मनमाने ढंग से आचरण करके दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा कर सकता है। न्याय का सिद्धांत ऐसी असीमित तथा अनियंत्रित स्वतंत्रता का समर्थन नहीं करता।

समानता तथा न्याय का संबंध–न्याय की अवधारणा का समानता के सिद्धांत से भी गहरा संबंध है। समानता का अभिप्राय है कि सभी नागरिकों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों। राज्य अपने सभी नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में समान सुविधाएँ प्रदान करे। सभी नागरिकों को कानून के समक्ष समान समझा जाए तथा सभी नागरिकों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो। समानता की इन्हीं धारणाओं का न्याय समर्थन करता है और व्यवहार में समानता के ये ही सिद्धांत न्याय का आधार हैं।

स्वतंत्रता और समानता के पारस्परिक संबंध के संदर्भ में न्याय का सिद्धांत–स्वतंत्रता तथा समानता के पारस्परिक संबंध तथा एक-दूसरे से दूरी से न्याय की स्थिति निर्धारित होती है। यदि स्वतंत्रता और समानता को एक दूसरे का विरोधी मान लिया जाए तो स्वतंत्रता समानता स्थापित नहीं कर सकती और समानता स्वतंत्रता को सुदृढ़ नहीं कर सकती। लेकिन गंभीरता से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता तथा समानता एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। समानता का अर्थ समान अवसरों की व्यवस्था तथा विशेषाधिकारों का अंत है, जबकि स्वतंत्रता सबके लिए अनुकूल वातावरण तथा अवसरों की व्यवस्था है

जिनका प्रयोग करके कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार विकास कर सकता है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता समानता को भी बढ़ाता है। न्याय की अवधारणा न तो समान अवसरों की उपलब्धि का विरोध करती है और न ही इस तथ्य का विरोध करती है कि व्यक्तियों को अपनी योग्यताओं के अनुसार विकास के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। इस संबंध में बार्कर का कहना है कि "न्याय ही वह अंतिम सिद्धांत है जो स्वतंत्रता व समानता तथा इन दोनों के विविध दावों के बीच ताल-मेल उत्पन्न करता है।"

नोट

9.9. भारतीय संविधान में न्याय की व्यवस्था
(Management of Justice in Indian Constitution)

भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक न्याय की उचित व्यवस्था की गई है। संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय प्रदान करना संविधान का लक्ष्य घोषित किया गया है। भारत के सभी नागरिकों को राजनीतिक न्याय प्राप्त हो सके, इसके लिए संविधान द्वारा भारत को संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, लोकतांत्रिक, धर्म निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य बनाया गया है। राजनीतिक न्याय की भावना से ही संविधान के अनुच्छेद–19 द्वारा नागरिकों को विचार, अभिव्यक्ति, शांतिपूर्वक सभा तथा सम्मेलन करने, संगठन बनाने, भारत की सीमा के अंदर भ्रमण करने, निवास करने, व्यवस्था आदि की 6 प्रकार की स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं।

भारतीय संविधान के तृतीय भाग में नागरिकों के विभिन्न मौलिक अधिकारों के अंतर्गत तथा चतुर्थ भाग में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत सामाजिक न्याय की प्राप्ति के विभिन्न साधनों का उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के लिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद–15 द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेद-भाव का निषेध किया गया है। अनुच्छेद–16 में राज्य के अधीन नौकरी के समान अवसरों का तथा अनुच्छेद–17 द्वारा अस्पृश्यता का अंत किया गया है। राज्य की नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत संविधान के अनुच्छेद–41 से अनुच्छेद–47 में नागरिकों के सामाजिक न्याय से संबंधित विभिन्न व्यवस्थाओं का उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के लिए अनुच्छेद–41 में नागरिकों को कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार स्वीकार किया गया है। अनुच्छेद–42 राज्य को काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने और प्रसूति सहायता उपलब्ध करने हेतु निर्देशित किया गया है। अनुच्छेद–43 में कहा गया है कि राज्य सभी कर्मकारों को काम, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर और अवकाश का संपूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद–44 में कहा गया है कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद–45 में बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबंध, अनुच्छेद–46 में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ-संबंधी हितों की अभिवृद्धि तथा अनुच्छेद–47 में राज्य के अपने लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को-ऊँचा करने तथा लोक-स्वास्थ्य का सुधार करने संबंधी कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान में कई महत्त्वपूर्ण निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद–39 में कहा गया है कि "राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया, इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से–

(क) पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,

(ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार से बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो,

(ग) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो,

(घ) पुरुषों और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो।

छात्र क्रियाकलाप

1. न्याय और स्वतंत्रता में क्या संबंध है? स्पष्ट कीजिए।

2. भारतीय संविधान में न्याय की क्या व्यवस्था है? बताइए।

भारत के नागरिकों को न्याय सुलभ हो अथवा विधिक सहायता के अभाव में न्याय से वंचित न रहना पड़े, इसके लिए संविधान के अनुच्छेद–39 'क' में कहा गया है कि "राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र इस प्रकार से काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और वह, विशिष्टतया, यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या अन्य किसी रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा।"

नोट

भारत में केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर ऐसे विभिन्न कदम उठाए जाते रहे हैं जिनसे नागरिकों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में वांछित सुधार हो। ये कदम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के प्रति सरकारों की प्रतिबद्धता को दर्शाते हैं।

9.10. सारांश (Summary)

हिंदी भाषा का शब्द 'न्याय' अंग्रेजी के शब्द 'Justice' का हिंदी रूपांतरण है। इसका अभिप्राय है–संपूर्ण गुण तथा नैतिक आचरण के स्वीकृत ढाँचे के अनुकूल आचरण। पीटर्स के अनुसार, "न्याय का अर्थ यह है कि जब तक भेदभाव किए जाने का कोई उचित कारण न हो तब तक सभी व्यक्तियों से समान व्यवहार किया जाए।" बार्कर ने न्याय का अर्थ कर्त्तव्य का पालन करना बताया है। इसी प्रकार संत ऑगस्टाइन ने भी कर्त्तव्यों के पालन को न्याय बताया है।

आधुनिक उदारवादी लेखकों के विचार में, राज्य द्वारा शोषणयुक्त तथा अन्याय प्रेरित विषमताओं को दूर करने और लोगों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही न्याय है। अतः न्याय का अस्तित्व वहीं संभव है, जहाँ कोई शोषण न हो। भारत में केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर ऐसे विभिन्न कदम उठाए जाते रहे हैं जिनसे नागरिकों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में वांछित सुधार हो। ये कदम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के प्रति सरकारों की प्रतिबद्धता दर्शाते हैं।

9.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. न्याय के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।
2. न्याय के सार्वलौकिक तत्वों का वर्णन कीजिए।
3. न्याय के विविध रूपों का उल्लेख कीजिए।
4. न्याय तथा स्वतंत्रता में संबंधों का विवेचन कीजिए।
5. भारतीय संविधान में न्याय-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

□□□

नोट

अध्याय-10

समानता (Equality)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

10.1. उद्देश्य (Objectives)
10.2. परिचय (Introduction)
10.3. समानता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Equality)
10.4. समानता की आवश्यक शर्तें (Important Factors of Equality)
10.5. समानता के रूप (Forms of Equality)
10.6. समानता और स्वतंत्रता का संबंध (Relationship between Equality and Liberty)
10.7. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा (Concepts of Equality in Indian Constitution)
10.8. सारांश (Summary)
10.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

10.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समानता का अर्थ एवं परिभाषा को समझने में;
- समानता के रूप एवं आवश्यक शर्तों को समझने में;
- समानता और स्वतंत्रता के संबंध को जानने में;
- भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा को समझने में।

समानता का अभिप्राय

10.2. परिचय (Introduction)

स्वतंत्रता की भाँति ही समानता शब्द भी राजदर्शन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लास्की के अनुसार "राजनीतिक विज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र में इससे कठिन विचार और कोई नहीं है।" बहुत से राजनीतिक विचारकों ने स्वतंत्रता की भाँति ही समानता को भी मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों में से एक बताया है। संसार के प्रायः सभी धर्मों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता स्वीकार की है। प्राचीन काल के वे विचारक जो प्राकृतिक विधान (Natural Law) के सिद्धांत में विश्वास रखते थे, समानता के सिद्धांत के भी कायल थे। सामाजिक संविदा सिद्धांत (Social Contract Theory) के तीनों प्रतिपादकों–हॉब्स, लॉक और रूसो (Hobbes, Lock and

Rousseau) ने प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में सभी मनुष्यों को समान चित्रित किया है। आधुनिक काल में समानता का विचार मुख्य रूप से सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध उठा है। फ्रांस की राज्यक्रांति ने समानता के सिद्धांत को सबसे पहले क्रियात्मक रूप से स्वीकार किया था। उसमें कहा गया था, "मनुष्य स्वतंत्र और समान पैदा हुए है और वे अपने अधिकारों के विषय में भी स्वतंत्र और समान रहते हैं।" अमरीका के स्वातंत्र्य घोषणा-पत्र में भी इस बात को दोहराया गया है और कहा गया कि, "हम इस सत्य को स्वतः सिद्ध स्वीकार करते हैं कि सब मनुष्य समान बनाए गए हैं।"

नोट

आजकल समानता के सिद्धांत को प्रायः सभी लोकतंत्रात्मक देशों ने स्वीकार कर लिया है और वहाँ के संविधानों में इस आशय के उपबंध रहते हैं।

10.3. समानता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Equality)

तब फिर समानता क्या है? समानता का अर्थ है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विकास के समान अवसर मिलने चाहिए। इसका आशय यह है कि व्यक्तित्व के उत्थान के लिए मनुष्य को जिन सुविधाओं की आवश्यकता होती है, राज्य को उन समस्त सुविधाओं का प्रबंध करना चाहिए। समानता का आधार यह है कि समाज के लिए प्रत्येक व्यक्ति का समान महत्त्व है। समानता का सिद्धांत धन और भूमि के अनुचित वितरण का विरोध करता है। समानता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में कुछ विशेष सुविधा-संपन्न वर्ग न रहें। लास्की ने समानता को "मूलतः एक खास समतलीकरण" (Fundamentally a Certain leveling Process) बताया है। उसके शब्दों में, "इसका अर्थ है कि समाज में कोई प्रक्रिया उसकी नागरिकता के निषेध का रूप ले ले। इसका अर्थ है कि मेरे सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि इस प्रकार हो कि दूसरे लोगों को इस प्रकार की सिद्धि में उसका न्याय परिणाम हो। इसका अर्थ है सामाजिक शक्तियों में इस-तरह तालमेल हो जिससे मेहनत के भाग में और उसके द्वारा प्राप्त लाभ के भाग में एक संतुलन रहे। इसमें यह निहित है कि भले ही मेरा मत किसी दूसरे के मुकाबले हल्का हो, लेकिन जब निर्णय किए जाएँ, तब इसका ख्याल रखा जाए।"

10.4. समानता की आवश्यक शर्तें (Important Factors of Equality)

समानता के लिए दो बातों की विशेष आवश्कयता है। (1) खास विशेषाधिकारों का अनस्तित्व (Absence of Special Privilege), और (2) सभी के लिए उचित अवसरों की व्यवस्था (Provision of Adequate Opportunities for All)। विशेषाधिकारों के अनस्तित्व का अभिप्राय है कि समाज में किसी भी व्यक्ति को धन, वंश या पद की दृष्टि से ऐसी कुछ विशेष सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होगी जिनसे दूसरे लोग वंचित हों। उचित अवसरों की व्यवस्था का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसे साधन सुलभ किए जाएँ जिनके द्वारा वह अपनी अंतर्निहित क्षमताओं का पूरा विकास कर सके। आधुनिक संसार में साधारणतया अवसरों की उपलब्धि पैतृक परिस्थितियों के ऊपर निर्भर रहती हैं। जिन बच्चों के माता-पिता धनी और शिक्षित होते हैं, वे बच्चे आसानी से ऊँची शिक्षा प्राप्त करके समाज में अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकते हैं। इसके विपरीत मजदूर माता-पिता के बच्चों को आगे चलकर अधिकतर शारीरिक श्रम का ही पल्ला पकड़ना पड़ता है।

10.5. समानता के रूप (Forms of Equality)

समानता के कई पहलू हैं—राजनीतिक समानता, नागरिक समानता, सामाजिक समानता और आर्थिक समानता।

राजनीतिक समानता—राजनीतिक समानता का आशय यह है कि सभी नागरिकों को, अपराधियों और पागलों को छोड़कर, अपने देश के शासन में समान अवसर मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा धन के आधारों पर राजनीतिक अधिकारों का निषेध राजनीतिक समानता पर आक्रमण करना है। राजनीतिक समानता का अर्थ है, "मैं राज्य में ऐसे किसी भी पद पर पहुँच सकता हूँ जिसके लिए लोग मुझे चुनने को प्रस्तुत हों। इसका अर्थ है कि राज्य में ऐसे लोग नहीं होंगे जिनकी सत्ता की कोटि मेरी सत्ता से भिन्न हो। जो भी अधिकार एक

छात्र क्रियाकलाप

1. समानता का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. समानता की आवश्यक शर्तें एवं रूपों का उल्लेख कीजिए।

नागरिक होने के नाते किसी दूसरे को वंशानुगत रूप में मिलेंगे, वही और उसी सीमा तक मुझे भी प्राप्त होने चाहिए।

नागरिक समानता—नागरिक समानता का अभिप्राय यह है कि कानून की दृष्टि में सब नागरिकों को समानता उपलब्ध होनी चाहिए। नागरिक समानता ही राज्य में प्रत्येक नागरिक को इस बात का आश्वासन प्रदान करती है कि उसके साथ न्याय किया जाएगा। नागरिक समानता की एक माँग यह भी है कि साधारण नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहना चाहिए। दोनों का न्याय एक ही कानून के अनुसार होना चाहिए।

नोट

सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का अभिप्राय यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। सामाजिक समानता मुख्य रूप से सामाजिक रीति-रिवाजों के ऊपर आधारित होती है। कुछ समाजों के रीति रिवाज ऐसे होते हैं कि वे जन्म या वंश के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की चौड़ी खाई उपस्थित कर देते हैं। उदाहरण के लिए हिंदुओं की वर्ण-व्यवस्था सामाजिक असमानता का एक ज्वलंत उदाहरण है। कभी-कभी धर्म भी सामाजिक असमानता को पैदा कर देता है। कुछ धर्मों या संप्रदायों के अनुयायी स्वयं को अन्य धर्मों या संप्रदायों के अनुयायियों से श्रेष्ठ समझते हैं। कभी-कभी लिंग भेद भी सामाजिक असमानता का कारण बन जाता है। स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम अधिकार प्राप्त होते हैं। जहाँ पुरुष का कार्यक्षेत्र जीवन की भाँति ही निस्सीम माना जाता है, वहाँ स्त्री का कार्यक्षेत्र आमतौर से केवल घर की चहारदीवारी तक ही सीमित समझा जाता है।

सामाजिक समानता का ही एक पहलू सांस्कृतिक समानता है। सांस्कृतिक समानता का अभिप्राय यह है कि देश के किसी सांस्कृतिक समूह के साथ पक्षपात नहीं होना चाहिए और सभी सांस्कृतिक समूहों को विकास के समान अवसर सुलभ होने चाहिए।

आर्थिक समानता—समानता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू आर्थिक समानता है। आर्थिक समानता का आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि सब व्यक्तियों को समान वेतन मिलने चाहिए। यह तो असंभव है क्योंकि इसका परिणाम व्यक्ति की उत्प्रेरणा-शक्ति को नष्ट कर देना होगा। आर्थिक समानता का अभिप्राय यह अवश्य है कि समाज में आर्थिक विषमताएँ कम-से-कम हों। यह नहीं होना चाहिए कि कुछ लोगों के पास तो इतनी अपार धनराशि हो कि वे इस बात को भी न समझ सकें कि इस धन का किस प्रकार प्रयोग किया जाए और कुछ लोगों के पास इतना भी धन न हो कि वे अपने दैनिक जीवन की न्यूनतम प्रारंभिक आवश्यकताएँ पूरी न कर सकें। आर्थिक समानता का अभिप्राय है कि मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं "यदि मेरा पड़ोसी उस अधिकार के कारण भूखा रहने को लाचार किया जाता है।" मैथ्यू आर्नल्ड के शब्दों में "आर्थिक असमानता हमारे उच्च वर्ग को सम्पन्न बनाती है, मध्य वर्ग को कठोर बनाती है और निम्नवर्ग की हत्या करती है।" आर्थिक समानता में यह बात भी निहित है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का और एक वर्ग दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण न कर सके। चरम रूप में आर्थिक समानता का आशय यह है कि उत्पादन और वितरण के साधनों पर संपूर्ण समाज का सामान्य नियंत्रण होना चाहिए।

10.6. समानता और स्वतंत्रता का संबंध (Relationship between Equality and Liberty)

कभी-कभी कहा जाता है कि समानता और स्वतंत्रता परस्पर-विरोधी शब्द हैं। उदाहरण के लिए लॉर्ड एक्टन (Lord Acton) और डी. टोकियावेली (De Tocqueville) जैसे इतिहासकारों का यही विचार है। लॉर्ड एक्टन (Lord Acton) ने लिखा था, "समानता की उत्कंठा स्वतंत्रता की आशा पर तुषारपात है।" लेकिन इस मान्यता के बिना स्वतंत्रता और समानता, दोनों एक दूसरे के पूरक शब्द हैं। समानता के बिना स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के बिना समानता पूरी नहीं हो सकती। यदि समाज में समानता नहीं है, तो नागरिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता केवल धोखामात्र है। उदाहरण के लिए नागरिक स्वतंत्रता केवल तभी हस्तगत की जा सकती है जबकि कानून की दृष्टि में सबको समान समझा जाए। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि राजनीतिक दृष्टि में सबको समान समझा जाए। लेकिन, राजनीतिक समानता का अर्थ केवल यह नहीं हो जाता कि व्यक्तियों को मतदान का अधिकार मिल जाए। खाली मतदान के अधिकार का कोई उपयोग नहीं है। जिन लोगों का यह विश्वास है कि लोकतंत्र सार्वभौम व्यस्क मताधिकार से अधिक कुछ नहीं है, वे वास्तविक तथ्यों को अपनी आँखों से ओझल कर देते हैं। जहाँ प्रचंड आर्थिक असमानताएँ हों, वहाँ मतदान

नोट

का अधिकार राजनीतिक स्वतंत्रता की गारंटी नहीं दे सकता। हम यह कदापि नहीं कह सकते कि कारखाने में काम करने वाले मजदूर को उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त है जितनी कि एक लक्षाधीश को।

लास्की का यह कहना सही है कि, "राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक सच्ची नहीं हो सकती जब तक कि उसके साथ आर्थिक समानता न मिली हो।" इतिहास के अनुशीलन से यह भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि राजनीतिक सत्ता पर केवल उन लोगों का ही नियंत्रण रहता है जो आर्थिक शक्ति के स्वामी होते हैं। आर्थिक शक्ति के स्वामी "शिक्षा प्रणाली को अपने हित के अनुकूल ढाल लेते हैं। पारितोषिक प्रदान कर ये संपतिहीन बुद्धिजीवी को अपनी सेवा में जुटा लेने योग्य बना लेते हैं। न्यायांग प्रायः सवेतन एडवोकेटों में से चुना जाता है, इसलिए कानूनी निर्णय भी इन्हीं के अनुभवों को परिलक्षित करते हैं। गिरजाघर भी इसी प्रकार के उपदेश देंगे जिसमें यह झलक होगी कि ये सब धनवानों की सहायता से चल रहे हैं।" कहने का सार यह है कि जहाँ आर्थिक असमानताएँ होती हैं, पूँजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेता है।

जहाँ आर्थिक असमानता होती है, वहाँ समस्त नागरिकों को कानून की समानता मुश्किल से ही मिल पाती है। कानून अकिंचन मजदूर की अपेक्षा लक्ष्मी के कृपापात्र का ही पक्ष अधिक ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि आज के युग में न्याय काफी महँगा है और गरीब मजदूर के पास ऐसे आर्थिक संसाधन नहीं होते कि वह ऊँचे-से-ऊँचे वकीलों की सेवा प्राप्त कर सके। गैल्सवर्दी का 'सिल्वर बॉक्स' (Silver Box) नामक नाटक यह स्पष्ट कर देता है कि इंग्लैंड जैसे लोकतंत्रात्मक देश में भी वस्तुतः दो प्रकार के कानून हैं, एक अमीरों के लिए और दूसरा गरीबों के लिए। इसलिए, यह स्पष्ट है कि आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार की स्वतंत्रता के लिए समानता जरूरी है।

10.7. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा (Concepts of Equality in Indian Constitution)

संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 14 से 18 तक नागरिकों के समता-अधिकार का विवरण है। अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि राज्य, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता (Equality before all) या विधियों के समान संरक्षण (Equal Protection of Laws) से वंचित नहीं करेगा। अनुच्छेद 15 में कहा गया है कि राज्य धर्म, मूलवंश (Race), जाति (Caste), लिंग (Sex), जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक को वंचित नहीं करेगा। कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या पूर्णतः या भागतः राज्य निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं के उपयोग के संबंध में किसी भी निर्योग्यता (Inability), दायित्व (Liability), निर्बंधन (Restriction) या शर्त के अधीन नहीं होगा। इस शर्त के बावजूद राज्य स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकता है। राज्य सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए भी विशेष व्यवस्था कर सकता है।

अनुच्छेद 16 ने राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन (Employment) या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों को अवसर की समता प्रदान की है। राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबंध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव (Descent), जन्म स्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर न तो कोई नागरिक अपात्र (Ineligible) होगा और न उससे विभेद (Discrimination) किया जाएगा। राज्य को अनुसूचित जातियों और अनुसचित जनजातियों के पक्ष में जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, राज्य के अधीन सेवाओं में किसी वर्ग या वर्गों के पदों पर प्रोन्नति (Promotion) के मामलों में, आरक्षण करने की अनुमति है।

अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता (untouchability) का अंत कर दिया है। उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध है जो विधि के अनुसार दंडनीय है।

अनुच्छेद 18 ने उपाधियों का अंत कर दिया है। राज्य सेना या विद्या संबंधी सम्मान के अलावा और कोई उपाधि नहीं दे सकता। इस अनुच्छेद में यह भी उपबंध किया है कि भारत का कोई नागरिक विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा।

छात्र क्रियाकलाप

1. समानता और स्वतंत्रता के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

2. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

नोट

10.8. सारांश (Summary)

समानता का अभिप्राय–संसार के प्रायः सभी विचारकों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता स्वीकार की है। सामाजिक संविदा सिद्धांत के तीनों प्रतिपादकों–हॉब्स, लॉक और रूसो–ने प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्यों को समान चित्रित किया है। आधुनिक काल में समानता का विचार मुख्य रूप से सामंती व्यवस्था के विरुद्ध उठा है। फ्रांस और अमरीका की क्रांतियों ने समानता के विचार को बढ़ावा दिया है।

समानता का अर्थ है कि समाज में सब व्यक्तियों को विकास के समान अवसर मिलें। इस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए आवश्यक है कि समाज में कुछ विशेष सुविधा सम्पन्न व्यक्ति न रहें।

समानता और स्वतंत्रता का संबंध–लॉर्ड एक्टन और डी. टोकियावेली जैसे इतिहासकारों ने समानता और स्वतंत्रता को परस्पर विरोधी माना है। लेकिन उनकी यह मान्यता सही नहीं है। स्वतंत्रता और समानता दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। समानता के बिना स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के बिना समानता पूरी नहीं हो सकती। राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक सच्ची नहीं हो सकती जब तक कि उसके साथ आर्थिक समानता न हो।

भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा–संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 14 से 18 तक समता अधिकार का विवरण है। संविधान ने भारत के सभी व्यक्तियों को विधि के समक्ष समता (Euqality before Laws) या विधियों के समान संरक्षण (Equal Protection of Laws) का अधिकार दिया है। अनुच्छेद 15 ने धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिरोध किया है। अनुच्छेद 16 लोक नियोजन के संबंध में अवसर की समता प्रदान करता है। अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता का और अनुच्छेद 18 ने उपाधियों का अंत किया है।

10.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. समानता का अर्थ एवं परिभाषा का उल्लेख कीजिए।
2. समानता के रूपों का वर्णन कीजिए।
3. समानता एवं स्वतंत्रता के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
4. समानता की आवश्यक शर्तों को समझाइए।
5. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा का विवेचन कीजिए।

□□□

नोट

अध्याय-11

सरकार के अंग और उनके कार्य
(Organs of the Government and Their Functions)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

11.1. उद्देश्य (Objectives)
11.2. परिचय (Introduction)
11.3. सरकार के अंग तथा उनके कार्य (Organs of the Government and Their Functions)
11.4. व्यवस्थापिका (Legislature)
11.5. व्यवस्थापिका संगठन (Composition of Legislature)
11.6. व्यवस्थापिका के कार्य (Functions of Legislature)
11.7. कार्यपालिका (Executive)
11.8. कार्यपालिका के कार्य (Functions of Executive)
11.9. न्यायपालिका (Judiciary)
11.10. न्यायपालिका का संगठन (Organisation of Judiciary)
11.11. न्यायपालिका के कार्य (Functions of Judiciary)
11.12. सारांश (Summary)
11.13. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

11.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सरकार के अंग और उसके कार्यों को समझने में;
- व्यवस्थापिका, उसके संगठन और कार्यों को समझने में;
- कार्यपालिका और उसके कार्यों को जानने में;
- न्यायपालिका, उसके संगठन और कार्यों को समझने में।

11.2. परिचय (Introduction)

सरकार राज्य का आवश्यक मूल तत्व है। यह राज्य का कार्यवाहक यंत्र है। इसी के माध्यम से राज्य की इच्छा को निर्धारित, व्यक्त और क्रियान्वित किया जाता है। गार्नर (Garner) के अनुसार "राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस संगठन या एजेंसी के द्वारा होती है उसका नाम सरकार है।" सोल्टाऊ (Soltau) के अनुसार, "सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं और साधनों से होता है जिनके द्वारा राज्य

की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।" बर्क (Burke) का मत है कि, "सरकार मानव बुद्धि का आविष्कार है जिसके द्वारा मनुष्य की इच्छाएँ पूर्ण की जाती हैं।"

उपरोक्त कथन यह व्यक्त करते हैं कि सरकार वह अभिकरण है जिसके माध्यम से राज्य के संकल्प बनते हैं, उनकी अभिव्यक्ति एवं पूर्ति होती है। राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य साधन है।

नोट

11.3. सरकार के अंग तथा उनके कार्य (Organs of the Government and Their Functions)

डॉ. प्रमुदत शर्मा का कथन है कि "शासन-संगठन के कार्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले मुख्य अंग तीन हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका देश के लिए कानून बनाने का कार्य करती है, कार्यपालिका उन कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका यह देखती है कि लोकतांत्रिक व्यवहार, नियमों और सीमाओं के अनुसार हो रहा है या नहीं। इस प्रकार व्यवस्थापिका राज्य संकल्पों को व्यक्त करती है। कार्यपालिका इन्हें साकार रूप देती है और न्यायपालिका इनकी व्याख्या करती है तथा इनके अनुसार अपने निर्णय देती है।"

सरकार के उपरोक्त तीन अंगों के कार्यों की विस्तार से व्याख्या निम्नांकित है—

11.4. व्यवस्थापिका (Legislature)

विधान मंडल, या व्यवस्थापिका या तो एक सदनीय (Uni-cameral) होती है या द्वि-सदनीय (Bi-cameral)। द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका के प्रथम सदन को निम्न सदन और दूसरे को उच्च सदन कहते हैं। प्रायः प्रत्येक देश में निम्न सदन जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता है और उच्च सदन जनता के कुछ वर्गों का। जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करने के कारण निम्न सदन उच्च सदन से प्रायः अधिक शक्तिशाली और अधिकार संपन्न होता है।

11.5. व्यवस्थापिका संगठन (Composition of Legislature)

जहाँ तक प्रथम सदन का प्रश्न है सभी जगह उसकी रचना राज्य की जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों द्वारा होती है। द्वि-सदनीय रचना में अवश्य ही भिन्न-भिन्न सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है। यदि ग्रेट ब्रिटेन में 'House of Lords' की रचना वंशानुगत आधार पर होती है तो अमेरिका में द्वितीय सदन पूर्णतया निर्वाचित होता है। कुछ राज्यों में ऐसी भी व्यवस्था होती है कि द्वि-सदन के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। कुछ राज्यों में यह मनोनयन पूर्णतया होती है और कुछ में आंशिक। भारत में द्वितीय सदन 'राज्य परिषद' की रचना आंशिक मनोनयन के सिद्धांत के साथ-साथ विधान मंडलों द्वारा निर्वाचन के अनुसार होती है।

व्यवस्थापिका सभाओं का कार्यकाल साधारणतया इस सिद्धांत के अनुसार निर्धारित किया जाता है कि न तो वह अधिक लंबा हो और न अत्यंत अल्प। आधुनिक विधायिकाएँ कार्यभार से अत्यधिक दबी रहती हैं। अतः संसार की लगभग सभी विधायिकाएँ अपना अधिकांश काम समितियों के द्वारा संपन्न करती हैं, ताकि कार्य सुचारू रूप से संचालित हो सके और समय की भी बचत हो सके। भारत में यह प्रणाली प्रचलित है। यदि दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो निम्नानुसार उपाय किए जाते हैं—

1. विवाद के निराकरण हेतु सदनों की एक संयुक्त समिति बना दी जाती है।
2. विवाद-ग्रस्त विधेयक पर जनमत लिया जाता है।
3. दोनों सदनों का संयुक्त सम्मेलन बुलाया जाता है।
4. प्रथम सदन द्वारा विवाद-ग्रस्त विधेयक को पुनः प्रसारित किया जाता है।

11.6. व्यवस्थापिका के कार्य (Functions of Legislature)

नोट

1. कानून निर्माण संबंधी कार्य (Legislative Function)—व्यवस्थापिका समाज में शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार कानून बनाती है, उनमें संशोधन करती है तथा उन्हें निरस्त करती है। यह सब काफी विचार-विनिमय के बाद होता है। कानूनों का प्रारूप तैयार होता है, फिर भी सामान्यतः उसके तीन वाचन होते हैं, कभी-कभी विशेष विचार हेतु विधेयक को प्रवर समितियों को सौंप दिया जाता है और जनमत जानने के लिए कानून का जनता में प्रसारण होता है।

2. वित्त (अर्थ) संबंधी कार्य (Financial Functions)—आधुनिक व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य राष्ट्रीय वित्त पर नियंत्रण रखना है। प्रतिवर्ष आगामी वर्ष के आय और व्यय का अनुमानित ब्यौरा (बजट) व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है और बिना उसकी स्वीकृति के एक रुपया भी व्यय नहीं किया जा सकता। व्यवस्थापिका ही नवीन कर लगाती है और अनावश्यक करों को हटाती है। वही आपूर्तियों (Supplies) को स्वीकृति देती है। विधि-निर्माण में सामान्यतः निचले सदन को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। वित्त विधेयक (Finance Bill) निचले सदन में ही प्रस्तुत किए जाने की परंपरा जड़ जमा चुकी है। 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' (No Taxation without Representation) की अमेरिकी उक्ति व्यवस्थापिका की श्रेष्ठता का प्रमाण है। व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में परस्पर विरोध होने पर प्रायः ऊपरी सदन को ही झुकना पड़ता है, पर अमेरिका में यदि सम्मिलित अधिवेशन में मतभेद पर कोई सहमति नहीं हो पाती है तो सीनेट के मत को मान्य ठहराया जाता है।

3. प्रशासकीय कार्य (Administrative Function)—व्यवस्थापिका का प्रशासन पर महत्त्वपूर्ण नियंत्रण रहता है। जिन देशों में संसदात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है वहाँ व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कार्यों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रखती है, क्योंकि मंत्रिमंडल व्यवस्थापिका के सदस्यों में से चुना जाता है और वह उसी के प्रति उत्तरदायी होता है। संसदीय प्रणाली में व्यवस्थापिका ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, प्रश्न और काम रोको प्रस्तावों द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। कार्यपालिका का अस्तित्व व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर करता है। इंग्लैंड, भारत आदि देशों में यही व्यवस्था है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली जैसे अमेरिका में भी कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण किसी न किसी रूप में बना रहता है। महाभियोग (Impeachment) का अमोघ अस्त्र व्यवस्थापिका के ही पास है। व्यवस्थापिका का उच्च सदन एक प्रमुख जाँच निकाय का कार्य करता है।

4. न्याय संबंधी कार्य (Judicial Functions)—अनेक देशों में व्यवस्थापिकाएँ न्याय संबंधी कार्य भी करती हैं, जैसे इंग्लैंड में 'House of Lords' व अमेरिका में सीनेट, अमेरिका के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति आदि पर अभियोग के लिए अनुशासन भंग के लिए न्यायालय के रूप में बैठती है जबकि प्रतिनिधि सदन अनुशासन भंग का अभियोग लगाता है। भारत में संसद को राष्ट्रपति व न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने का अधिकार है।

5. निर्वाचन संबंधी कार्य (Electoral Functions)—आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थापिकाएँ अनेक निर्वाचन संबंधी कार्य भी करती हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संसद भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। राष्ट्रपति का चुनाव भी संसद के निर्वाचित सदस्यों तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है। स्विट्जरलैंड में वहाँ की संसद मंत्रिपरिषद्, न्यायाधीशों तथा प्रधान सभापति का चुनाव करती है। अमेरिका में सीनेट और प्रतिनिधि सभा को अपने-अपने निर्वाचन विवरणों और सदस्यों की निर्वाचन संबंधी योग्यताओं का निर्णय करने का अधिकार है।

6. संशोधन संबंधी कार्य (Amendment Functions)—व्यवस्थापिका का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार संविधान में संशोधन करने का है। यह अधिकार कुछ देशों में आंशिक होता है तो कुछ देशों में पूर्ण। संशोधन की विधि सरल भी हो सकती है और जटिल भी। भारत में संसद ने मौलिक अधिकारों में भी संशोधन का अधिकार ग्रहण कर लिया है। ब्रिटिश संसद साधारण बहुमत से ही संविधान में संशोधन कर सकती है जबकि अमेरिका में संशोधन प्रस्ताव या तो स्वयं दो-तिहाई बहुमत से पारित कर सकती है अथवा तीन-चौथाई राज्यों की प्रार्थना पर बुलाई जाने वाली राष्ट्रीय सभा द्वारा उसकी स्वीकृति आवश्यक होती है। संविधान में संशोधन का यह अधिकार एक प्रकार से संविधान पर भी व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता प्रस्थापित कर देता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. सरकार के अंग और उसके कार्यों का वर्णन संक्षेप में कीजिए।

2. व्यवस्थापिका क्या है? इसके विभिन्न कार्यों को निम्नांकित करें।

7. विमर्शात्मक कार्य (Functions Relating to Discussion)—व्यवस्थापिका विचार विनिमय संबंधी महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित करती है। विधि निर्माण और विचार-विमर्श दोनों कार्य साथ-साथ चलता है। कानून तभी लोकप्रिय हो सकता है जब वह बड़ी सूझ-बूझ के साथ बनाया जाए। इसके लिए विषय पर पर्याप्त विचार-विमर्श होना आवश्यक है। एतदर्थ, व्यवस्थापिका को बहुत सी समितियों में बाँट दिया जाता है ताकि विभिन्न विधेयकों पर गंभीरता और बारीकी से विचार हो सके। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक विषयों पर तथा राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर जहाँ विचार-विनिमय होता है, सरकार राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीति की इसमें चर्चा करती है तदुपरांत इसका अनुमोदन प्राप्त करती है।

नोट

8. अन्य कार्य (Other Functions)—व्यवस्थापिका जनता की शिकायतों को प्रकाश में लाने का साधन है। इसमें प्रायः सभी प्रकार के मामलों की सुनवाई हो सकती है तथा वाद-विवाद और चर्चा द्वारा जनता के महत्त्व की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसकी सभी कार्यवाहियों को समाचार पत्रों में प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार लोकमत को प्रकट करने और इसका निर्माण करने के साधन के रूप में कार्य करती है।

11.7. कार्यपालिका (Executive)

वस्तुतः कार्यपालिका सरकार का दूसरा अंग है। आधुनिक राज्यों में उसका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रायः उसी के लिए 'सरकार' (Government) शब्द का प्रयोग किया जाता है। कार्यपालिका शब्द का प्रयोग उन अधिकारियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनका काम कानूनों को क्रियान्वित करना है, किंतु राजनीति विज्ञान में 'कार्यपालिका' शब्द को उसके संकुचित अर्थ में प्रयोग करने की प्रथा है। यह अर्थ राज्य के मुख्य कार्यपालक नेता और उसके परामर्शदाताओं और मंत्रियों को ही संकेत करता है। उदाहरणार्थ, भारत में राष्ट्रपति और उसका मंत्रिमंडल 'सरकार' का द्योतक है।

'कार्यपालिका' को परिभाषित करते हुए गार्नर (Garner) ने कहा है, "व्यापक एवं समग्र अर्थ में कार्यपालिका के अंग में उन सब कार्यकर्त्ताओं व संस्थाओं के वर्ग सम्मिलित हैं, जो राज्य की उस इच्छा को कार्यान्वित करते हैं जो कानून के रूप में निर्मित कर व्यक्त की गई है।" गिलक्राइस्ट (Gilchrist) के अनुसार, "कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में जनता की अभिव्यक्त इच्छा को कार्य रूप में परिणत करता है। यह वह धूरी है, जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासनिक तंत्र घूमता है।"

महत्त्व—कार्यपालिका के महत्त्व (Significance) को व्यक्त करते हुए फाइनर (Finer) का कथन है कि, "कार्यपालिका को वे सभी शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं जो व्यवस्थापिका और न्यायपालिका में शक्तियों के बँटवारे के बाद बची रहती हैं।" कोरी (Corry) का मत है कि, "कार्यपालिका सरकार का सार है। व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका इसके संवैधानिक रूप के यंत्र के समान हैं।"

रूप—आधुनिक कार्यपालिका के विभिन्न रूप निम्नांकित हैं—

(*i*) ध्वजमात्र कार्यपालिका
(*ii*) एकल कार्यपालिका
(*iii*) बहुल कार्यपालिका
(*iv*) संसदात्मक कार्यपालिका
(*v*) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका

भारतीय गणतंत्र का राष्ट्रपति भी राज्य का नाम मात्र का नेता है। वास्तविक कार्यपालिका 'मंत्रिपरिषद्' है। अर्थात् यह रूप ध्वजमात्र कार्यपालिका के अनुरूप है। जो कार्यपालिका अपने कार्य के लिए संसद के समक्ष उत्तरदायी होती है और जिसका अस्तित्व संसद के हाथ में होता है उसे संसदात्मक कार्यपालिका कहते हैं। भारत व ब्रिटेन में इसी प्रकार की कार्यपालिका है। दोनों देशों में मंत्रिमंडल (Cabinet) ही वास्तविक कार्यपालिका होती है जो राष्ट्रपति या राजा या रानी के नाम पर समस्त शासनात्मक संचालन करती है। अमेरिका में अध्यक्षात्मक कार्यपालिका है जिसमें संविधान द्वारा कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका की शक्तियाँ विभाजित होती हैं।

नोट

11.8. कार्यपालिका के कार्य (Functions of the Executive)

1. प्रशासकीय कार्य–प्रशासन की नीति निर्धारित करना तथा राज्य का प्रबंध करना किसी भी कार्यपालिका का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। कानूनों को कार्यरूप देने हेतु कार्यपालिका अथवा शासन विभाग द्वारा कर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की जाती है। कार्यपालिका उन्हें उचित आदेश देती है और यह देखती है कि प्रशासन कार्यों का संचालन सुचारू रूप से हो। लगभग सभी राज्यों में स्थायी सिविल कर्मचारियों के विषय में निश्चित नियम होते हैं और उन सभी नियमों का स्रोत कार्यपालिका ही होती है। कार्यपालिका अपनी इच्छानुसार उनमें संशोधन व परिवर्तन कर सकती है। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका का कार्य प्रायः अधिक कुशलता से होता है क्योंकि मंत्रिमंडल का प्रत्येक मंत्री किसी विशेष विभाग या कई विभागों का दायित्व संभालकर उन्हें कुशलतापूर्वक निभाने का प्रत्यन करता है और इसके लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

2. सैनिक कार्य–कार्यपालिका सैन्य अधिकारियों के स्थल, जल एवं वायुसेना की सर्वोच्च कमान होती है। कुछ राज्यों में युद्ध की घोषणा करने का अधिकार इसमें शामिल है। कार्यपालिका विदेशों के साथ संधि व समझौते भी करती है। काण्ट के अनुसार, "सैन्य बल का नियंत्रण एवं अनुप्रयोग, शांति व्यवस्था स्थापित करना तथा बाह्य आक्रमण से देश की सुरक्षा करना स्वाभाविक रूप से कार्यपालिका के ही कार्य हैं।"

3. कूटनीतिक कार्य–प्रत्येक राज्य का दूसरे राज्य के साथ कुछ संबंध स्थापित होते हैं और उनमें पारस्परिक अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार होता है। संधियाँ होती हैं, व्यापारिक समझौते होते हैं तथा राजदूतों का आदान-प्रदान होता है। तत्संबंधी सभी कार्य कार्यपालिका करती है। यद्यपि व्यवस्थापिका का इस संबंध में पर्याप्त नियंत्रण रहता है। कार्यपालिका ही विदेशों के साथ आर्थिक, राजनैतिक, व्यापारिक सभी प्रकार के समझौते संपन्न करती है।

4. विधायी कार्य–कार्यपालिका किसी न किसी रूप में व्यवस्थापिका के साथ विधि निर्माण के कार्यों में अवश्य भाग लेती है अथवा उसे प्रभावित करती है। संसदीय पद्धति वाले राज्यों में मंत्रिपरिषद् संसद का अधिवेशन बुलाती है, उसका सत्रावसान तथा विघटन करती है। यद्यपि कानूनों को सब जगह विधानमंडल ही स्वीकृत करता है, किंतु विधेयकों पर विचार करने के लिए प्रस्ताव रखना, विधेयकों को प्रस्तुत करना तथा पारित करना, किसी विधेयक को कानून का रूप लेने से रोकना आदि कार्यों में कार्यपालिका का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भाग रहता है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी जगह इसे व्यवस्थापिका द्वारा प्रदत्त अपने अधिकार के अंतर्गत कानूनी आदेश एवं नियम जारी करने का भी अधिकार रहता है। व्यवस्थापिका के विश्रांतिकाल में कार्यपालिका आवश्यकता पड़ने पर अध्यादेश जारी करती है। किन्हीं दो राज्यों में ऐसी व्यवस्था है कि अध्यक्ष संकटकालीन घोषणा करके स्वयं सारी शक्तियाँ ग्रहण कर लेता है और व्यवस्थापन कार्य अपने ऐसे अध्यादेशों के माध्यम से संपादित कर सकता है जिनकी मान्यता संसद द्वारा पारित कानूनों के अनुरूप ही होती है।

5. न्यायिक कार्य–प्रत्येक देश की कार्यपालिका के प्रधान कुछ न्यायिक कार्य भी करते हैं, जैसे–न्यायाधीशों की नियुक्ति, अपराधियों को क्षमादान, दंड घटाना आदि। भारत और अमेरिका में राज्याध्यक्षों को ये अधिकार प्राप्त हैं। कुछ देशों में शासन के अधिकारियों और नागरिकों के मध्य कुछ विशेष प्रकार के विवाद के निर्णय का न्यायिक अधिकार कार्यपालिका को रहता है।

6. वित्तीय कार्य–देश के समूचे आय-व्यय का व्यावहारिक रूप में उत्तरदायित्व कार्यपालिका का है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से इस आय-व्यय की स्वीकृति विधानमंडल ही देता है। भारत एवं ब्रिटेन में केबिनेट ही धन-विधेयक को संसद में प्रस्तुत करती है और अपने बहुमत के बल पर संसद से उन्हें पारित करवाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संपूर्ण विधि-निर्माण का कार्य कांग्रेस का है, किंतु व्यावहारिक रूप से बजट राष्ट्रपति के निर्देशन से ही तैयार होता है। यद्यपि इसे पारित काँग्रेस ही करती है। राष्ट्रीय कोष की समुचित व्यवस्था के लिए कार्यपालिका के अंतर्गत एक वित्त-विभाग होता है। यह प्रत्येक विभाग के आय-व्यय का निरीक्षण करता है और उस पर नियंत्रण रखता है।

7. अन्य कार्य–कार्यपालिका और भी अनेक कार्यों का संपादन करती है, जैसे–उपाधियों का वितरण, व्यक्तियों का उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिए पेंशन या अन्य प्रकार की सहायता आदि। राज्य के कल्याणकारी

स्वरूप के विस्तार के लिए कार्यपालिका का अधिकार कार्यक्षेत्र, मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को छूने लगा है। आज व्यवस्थापिका की स्थिति कार्यपालिका के समक्ष गौण हो गई है। कार्यपालिका का स्वरूप इतना जटिल और शक्तिशाली बन गया है इसके समस्त कार्यों को किसी सीमा में बाँधना अत्यंत दुष्कर हो गया है।

नोट

11.9. न्यायपालिका (Judiciary)

डॉ. प्रभुदत्त शर्मा के अनुसार सरकार के अंगों में न्यायपालिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। नागरिकों का कल्याण सत्य और पक्षपात रहित न्याय पर ही निर्भर करता है। राजकीय कानूनों के उल्लघनकर्ताओं को दंड देने के लिए एक निर्भीक व निष्पक्ष न्यायिक संस्था का होना अनिवार्य है। आधुनिक न्यायालय न केवल पारंपरिक अभियोगों का निर्णय करती है अपितु उन विवादों का निर्णय भी करता है जो व्यक्तियों तथा राज्यों अथवा एकाधिक राज्यों के मध्य उठ खड़े होते हैं।

मैरियट (Marriot) के अनुसार, "सरकार के जितने भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, उनमें निश्चित रूप से न्याय का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों से संबद्ध है। कानून निर्माण की प्रक्रिया कितनी भी विस्तृत व वैज्ञानिक हो तथा कार्यपालिका कितनी भी पूर्ण संगठित हो फिर भी यदि न्याय में विलंब हो जाए या वह दोषपूर्ण हो या कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण अथवा भ्रामक हो, नागरिकों का जीवन दुःखमय हो सकता है व उनकी संपत्ति को संकट उत्पन्न हो जाता है।" गार्नर के अनुसार, "न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य व सुसंस्कृत राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। कोई भी समाज विधानमंडल के बिना रहता है, यह संभव हो सकता है, किंतु इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती है कि किसी राज्य में न्यायपालिका की कोई व्यवस्था न हो।" ब्राइस का मत है कि, "न्याय विभाग की कुशलता से बढ़कर सरकार की श्रेष्ठता की कसौटी कोई दूसरी नहीं हो सकती क्योंकि नागरिक की सुरक्षा व हितों पर प्रभाव इतना अन्य किसी बात का नहीं होता जितना कि उसके इस विश्वास का होता है कि निष्पक्ष न्याय शीघ्र अवश्य होगा।" गैले ने भी कहा है कि, "अधिकारों को निश्चित करने के लिए, उन पर निर्णय देने के लिए, अपराधियों को दंड देने हेतु, न्याय-प्रशासन करने हेतु–न्याय विभाग अत्यंत आवश्यक है।"

11.10. न्यायपालिका का संगठन (Organization of Judiciary)

प्रायः प्रत्येक देश में केंद्रीय अथवा संघीय स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था होती है जिसके अधीन बहुत से प्रादेशिक, उच्च क्षेत्रीय और जिला न्यायालय होते हैं। ये न्यायालय प्रायः शृंखलाबद्ध होते हैं जिसमें सबसे निम्न श्रेणी का न्यायालय छोटे-छोटे विषयों का और उच्च न्यायालय विशिष्ट, बड़े तथा पेचीदे मामलों की सुनवाई करता है। अनेक राज्यों में दीवानी और फौजदारी अभियोगों के लिए पृथक् न्यायालय होते हैं जबकि कुछ राज्यों में एक ही न्यायालय दोनों प्रकार के अभियोगों का निर्णय करता है। उदाहरणार्थ, भारत में जिला स्तरीय न्यायालयों में दीवानी, फौजदारी मुकदमों की सुनवाई अलग-अलग होती है जबकि उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालयों में दोनों ही प्रकार के मामले सुने जाते हैं। ब्रिटेन में दीवानी न्यायालय अलग है और फौजदारी अलग। फौजदारी मामलों में जूरी प्रथा का प्रयोग अधिक होता है। प्रत्येक राज्य साधारण न्यायालयों के अतिरिक्त विशिष्ट उद्देश्यों के लिए कुछ विशिष्ट न्यायालयों की भी व्यवस्था करता है। जैसे–सैनिक न्यायालय, श्रमिक पंचायत न्यायालय, धार्मिक न्यायालय और दावे के न्यायालय आदि। यूरोप के कुछ राज्यों में प्रशासकीय न्यायालयों की भी अलग स्थापना की गई है।

प्राथमिक न्यायालयों का अधिकार क्षेत्र स्थानीय विभागों के समयानुकूल होता है जबकि उच्च न्यायालयों के अधिकार के अंतर्गत विस्तृत क्षेत्र आ जाते हैं। संघीय राज्यों में दो प्रकार के न्यायालय होते हैं–एक संघीय सरकार द्वारा स्थापित न्यायालय जो राष्ट्रीय कानून को समान रूप से संपूर्ण देश में लागू करते हैं और दूसरा, राज्यों के न्यायालय जो अपने-अपने क्षेत्रों में राजकीय कानूनों के अधीन न्याय की व्यवस्था करते हैं। भारत में न्यायपालिका को संगठन का समन्वित रूप प्राप्त है। यहाँ अमेरिका की भाँति संघ एवं राज्यों के सबसे बड़े न्यायालय को 'सर्वोच्च न्यायालय' (Supreme Court) कहा जाता है जिसके अधीन राज्यों के 'उच्च न्यायालय' (High Court) होते हैं। हर राज्य की न्याय व्यवस्था उस राज्य के 'उच्च न्यायालय' के अधीन होती है और

छात्र क्रियाकलाप

1. कार्यपालिका से क्या अभिप्राय है? इसके विभिन्न कार्यों को निम्नांकित करें।

2. न्यायपालिका का संगठन क्या है? संक्षेप में लिखिए।

उच्च न्यायालय के निर्णयों की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। उच्च न्यायालय के अधीन अन्य छोटे न्यायालय होते हैं।

11.11. न्यायपालिका के कार्य (Functions of Judiciary)

नोट

न्यायपालिका के कार्य निम्नांकित हैं–

1. अभियोग निर्णय (Case Judgement)–न्यायपालिका का सबसे प्रमुख कार्य कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के विवादों का निर्णय करना है। न्यायालय दीवानी, फौजदारी एवं राजस्व संबंधी सभी पारस्परिक विवादों का निर्णय विधि अनुसार करते हैं। इस संबंध में न्यायालय अपने निर्णय प्रचलित कानूनों के अनुसार करते हैं। वे कानूनों की अच्छाई या बुराई से संबंध नहीं रखते।

2. कानूनों की व्याख्या (Interpretation of Law)–यद्यपि न्यायाधीश कानून के औचित्य तथा अनौचित्य से संबंध नहीं रखते, किंतु कानूनों की व्याख्या करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। न्यायालयों द्वारा कानूनों के स्पष्टीकरण के लिए की गई व्याख्याओं की स्थिति कानूनों के समान होती है।

3. औचित्य के सिद्धांत पर निर्णय (Judgement Based on the Equity)–कभी-कभी न्यायाधीशों के समक्ष ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है जब कोई निश्चित कानून लागू नहीं होता। ऐसे समय न्यायाधीश अपने विवेकानुसार जो उसे न्यायसंगत जान पड़ता है, निर्णय कर देता है। इन निर्णयों के आधार पर कानून की परंपरा स्थापित हो जाती है और राज्य में कानूनों के लिए ऐसे प्रकार का विकास होता है जिन्हें न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून कहा जाता है। औचित्य के आधार पर कानून निर्माण के संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि न्यायाधीश औचित्य, धर्म व सत्य के आधार पर जो निर्णय करते हैं, वह एक परंपरा को उत्पन्न कर देता है और इससे नए कानून का निर्माण हो जाता है। लीकॉक ने इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "इस प्रकार न्यायाधीश द्वारा दिया गया निर्णय अप्रत्यक्ष रूप से कानून का पूरक होता है। अतः न्यायालय विधानमंडल के समान कार्य कर अनेक वर्तमान कानूनों का सृजन करता है।"

4. अधिकारों तथा स्वतंत्रता की रक्षा (Protection of Rights and Liberties)–न्याय विभाग व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके अधिकारों की रक्षा भी करता है जो व्यक्ति को संविधान द्वारा प्राप्त होते हैं। न्यायालय देखता है कि राज्य की शक्ति व्यक्ति की उचित स्वतंत्रता में बाधक न बने। ऐसी स्थिति में व्यक्ति न्याय विभाग से न्याय प्राप्त कर सकता है। न्यायालय व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा अधिकारों के प्रयोग में बाधा उत्पन्न करने वाले किसी भी शासकीय कार्य पर रोक लगा सकता है।

5. संविधान का संरक्षण (Conservation of Constitution)–न्यायपालिका का एक प्रमुख कार्य संविधान की पवित्रता तथा उसमें प्रतिवादित व्यवस्था की रक्षा करना है। संघीय व्यवस्था में न्यायालय को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों तथा कार्यकारिणी की आज्ञाओं को वैध या अवैध घोषित करने का अधिकार होता है। संघीय सरकार व उसकी इकाइयों के मध्य और इकाइयों के आपसी पारस्परिक विवादों का निर्णय भी सर्वोच्च न्यायालय ही करता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार से कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका द्वारा होने वाले अतिक्रमणों के विरुद्ध न्यायापालिका को संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

6. परामर्श (Counselling)–अनेक राज्यों में न्यायपालिका वहाँ के राज्याध्यक्ष को कानूनी प्रश्नों पर परामर्श देती है। इंग्लैंड में न्यायालयों से किसी मामले के संबंध में औपचारिक निर्णय माँगने की प्रथा प्रचलित है। भारत में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँग सकता है। कनाडा, पनामा, आस्ट्रेलिया, स्वीडन आदि देशों में भी न्यायपालिका परामर्शात्मक कार्य का निर्वाह करती है।

7. प्रशासनिक कार्य (Administrative Function)–उच्च न्यायालयों को और सर्वोच्च न्यायालय के स्थानीय पदाधिकारियों और अधीनस्थ कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा न्यायालय के आंतरिक प्रशासन संबंधी छोटे-छोटे नियमों को लागू करने का अधिकार प्राप्त होता है।

8. विविध कार्य (Miscellaneous Function)–गार्नर ने न्यायपालिका के अन्य विविध कार्यों में अग्रांकित कार्यों का उल्लेख किया है–"(1) विभिन्न प्रकार के लेख और आदेश जारी करना (2) संबंधित पक्षों की प्रार्थना पर यह निर्णय देना कि क्या ठीक, उचित या अधिकार संगत है और विधि की माँग क्या है (3) न्यायालय के कुछ स्थानीय अधिकारियों को नियुक्त करना, लिपिक तथा अन्य कर्मचारियों को नियुक्त

करना, लाइसेंस देना, संरक्षकों और न्यायाधिकारियों को नियुक्त करना, वसीयतनामों को प्रमाणित करना, मृत व्यक्तियों की संपत्ति का प्रबंध करना, आदाताओं नियुक्त करना आदि।"

वास्तव में न्यायपालिका के महान कार्य की यह मोटी रूपरेखा मात्र ही दी गई है। न्यायपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यंत विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है तथा विभिन्न राज्यों में किसी सीमा तक उनमें न्यूनाधिक भिन्नता भी पाई जाती है।

नोट

11.12. सारांश (Summary)

सरकार से तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं और साधनों से है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है। सरकार वह अधिकरण है जिसके माध्यम से राज्य के संकल्प बनते हैं, उनकी अभिव्यक्ति एवं पूर्ति होती है। सरकार के प्रमुख तीन अंग हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं जो जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार कार्यपालिका कानून के रूप में जनता की अभिव्यक्त इच्छा को कार्य रूप में परिणत करता है। यह वह धुरी है जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासनिक तंत्र घूमता है। कार्यपालिका को सरकार का सार कहा जाता है। सरकार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग न्यायपालिका है। इसका सबसे प्रमुख कार्य कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के विवादों का निर्णय करना है। इस प्रकार सरकार के तीनों अंग मिलकर देश का संचालन करते हैं।

11.13. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. सरकार के अंग तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. व्यवस्थापिका क्या है? उसके कार्यों का उल्लेख कीजिए।
3. कार्यपालिका क्या है? उसके विभिन्न रूपों को लिखिए।
4. कार्यपालिका के कार्यों का विवेचन कीजिए।
5. न्यायपालिका के संगठन एवं उसके कार्यों का विवरण दीजिए।

❑❑❑

इकाई–4

अध्याय–12

राजनीतिक दल
(Political Parties)

नोट

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

12.1. उद्देश्य (Objectives)
12.2. परिचय (Introduction)
12.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)
12.4. द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति (Double Party and Many Party System)
12.5. एकदलीय पद्धति (Single Party System)
12.6. दलपद्धति के गुण-दोष (Merits and Demerits of Party-system)
12.7. भारत के राजनीतिक दल (Indian Political Parties)
12.8. सारांश (Summary)
12.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

12.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक दल का अर्थ एवं परिभाषा का ज्ञान प्राप्त करने में;
- द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति को समझने में;
- दलपद्धति के गुण-दोषों को जानने में;
- भारत के राजनीतिक दलों को समझने में।

12.2. परिचय (Introduction)

लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता राजनीतिक दलों का उत्कर्ष है। लोकतंत्र के संगठन और निर्माण में उनका निर्णायक भाग रहता है। जनता के अंदर विभिन्न विचारधाराओं का प्रसार करने में वे दलाल का सा कार्य करते हैं। लार्ड ब्राइस ने दलों के महत्त्व के विषय में यह ठीक ही लिखा है–"दल अनिवार्य हैं। कोई भी बड़ा स्वतंत्र देश उनके बिना नहीं रह सका है। किसी व्यक्ति ने यह प्रदर्शित नहीं किया है कि प्रतिनिधिक शासन उनके बिना कैसे चल सकता है। वे मतदाताओं की अव्यवस्था में शांति और व्यवस्था उत्पन्न करते हैं, यदि दल कुछ बुराइयाँ उत्पन्न करते हैं, तो वे दूसरी बुराइयों को कुछ कम या दूर भी करते हैं।" अतः लोकतंत्र के सफल संचालन के लिए राजनीतिक दलों का विशेष महत्त्व है। एकतंत्रात्मक देशों में राजनीतिक दलों का कार्य लोकतंत्रात्मक देशों के राजनीतिक दलों के कार्यों से भिन्न होता है। अधिनायकवादी देश में एक राजनीतिक दल होता है और वह स्वयं को सत्तारूढ़

दल के साथ समीकृत कर देता है। संक्षेप में, आधुनिक राजनीतिशास्त्र का यह एक अटल सिद्धांत है कि, शासन-प्रणाली चाहे कैसी भी क्यों न हो, उसके पीछे मूल शक्ति राजनीतिक दलों की ही होती है।

नोट

12.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

राजनीतिक–राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार को नियंत्रित करना और समान नीति को कार्यान्वित करना चाहते हैं। लीकॉक के शब्दों में–"राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं जो इकट्ठे होकर एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक प्रश्नों पर एक से होते हैं और वे एक समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं।" गिलक्राइस्ट और मैकाइवर ने भी राजनीतिक दलों की बहुत कुछ यही परिभाषा दी है। बर्क के अनुसार–"राजनीतिक दल व्यक्तियों का वह समुदाय है जो अपने संयुक्त प्रयास द्वारा किसी विशिष्ट सिद्धांत के आधार पर जिसमें उसके सभी सदस्य सहमत होते हैं, राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करना चाहता है।" राजनीतिक दलों की इन कुछ प्रतिनिधि परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक राजनीतिक दल की रचना के लिए कुछ चीजों की आवश्यकता होती है : (1) संगठन, (2) सामान्य सिद्धांत, (3) राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य, (4) शांतिपूर्ण उपायों का प्रयोग, और (5) राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का प्रयास। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक दल गुटों से भिन्न होते हैं। गुटों का लक्ष्य संकुचित होता है और वे अनुचित उपायों द्वारा भी अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसके विपरीत राजनीतिक दल केवल शांतिपूर्ण और वैधानिक उपायों द्वारा ही शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं और उनका उद्देश्य संपूर्ण राष्ट्र के हितों की अभिवृद्धि करना होता है।

12.4. द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति (Double Party and Many Party System)

द्विदल और बहुदल पद्धतियों का अभिप्राय–किसी भी लोकतंत्रात्मक राज्य में दो या दो से अधिक राजनीतिक दल हो सकते हैं। जहाँ दो दल होते हैं, वहाँ द्विदलीय पद्धति होती है और जहाँ बहुत से दल होते हैं, वहाँ बहुदल पद्धति होती है। द्विदल पद्धति का यह अर्थ नहीं है कि देश में केवल दो ही राजनीतिक दल हों, इससे अधिक नहीं। इसका मंतव्य केवल यही है कि देश में मुख्य रूप से दो ही राजनीतिक दल होते हैं। यदि और राजनीतिक दल होते भी हैं, तो उनका कोई विशेष महत्त्व या प्रभाव नहीं होता। इंग्लैंड और अमेरिका द्विदल पद्धति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इंग्लैंड में इस समय अनुदार दल और श्रमिक दल प्रमुख हैं और देश की संपूर्ण राजनीतिक गतिविधि इन्हीं दलों के ऊपर निर्भर है। पहले इंग्लैंड में अनुदार दल और उदार दल मुख्य थे। इंग्लैंड में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् श्रमिक दल की उन्नति हुई। इससे यह भय होने लगा था कि इंग्लैंड की द्विदलीय पद्धति नष्ट हो जाएगी, परंतु श्रमिक दल की उन्नति के साथ ही साथ उदार दल की अवनति ने इस भय को निराधार सिद्ध कर दिया। अमेरिका में दो सर्वमान्य राजनीतिक दल रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल हैं।

द्विदल पद्धति के गुण–द्विदल के समर्थकों का कहना है कि संसदीय शासन की सफलता के लिए यह एक आवश्यक शर्त है। द्विदल पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सरकार अधिक दृढ़ एवं स्थिर रहती है। विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी रहता है। द्विदल में गंभीर राष्ट्रीय संकटों के अवसर को छोड़कर संयुक्त सरकारों के निर्माण की जो बहुदल पद्धति की एक अभिन्न विशेषता है, कभी आवश्यकता नहीं होती।

12.5. एकदलीय पद्धति (Single Party System)

एकदलीय शासन का स्वरूप–यह निर्विवाद है कि लोकतंत्रात्मक शासन की सफलाता के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अपरिहार्य है। अधिनायकवाद की सबसे बड़ी पहचान यह है कि अधिनायक

अपना विरोध करने वाले समस्त राजनीतिक दलों व संगठनों का दमन कर देता है और केवल अपना समर्थन करने वाले दल को ही जीवित रखता है।

एकदलीय पद्धति का उदय प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् हुआ था। सबसे पहले रूस ने और इसके बाद इटली, जर्मनी और अन्य साम्यवादी या फासिस्ट देशों ने इस प्रणाली को अपनाया था। एकदलीय पद्धति आजकल के सर्वाधिकारवादी राज्यों की एक प्रमुख विशेषता है। इस पद्धति के अंदर शासन की संपूर्ण शक्ति एक दल के हाथों में केंद्रीभूत होती है और इस दल का शासन के समानांतर ही संगठन होता है। रूस में यह दल साम्यवादी दल, जर्मनी में नाजी दल और इटली में फासिस्ट दल थे। साम्यवादियों का एक प्रणाली के समर्थन में कहना था कि विभिन्न राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गगत हितों को प्रतिनिधित्व करते हैं। जहाँ वर्ग-संघर्ष का अंत हो गया है और एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना हो गई, वहाँ समाज के सभी सदस्यों के हित एक से हो जाते हैं और एक ही राजनीतिक दल इन हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। फलतः, वहाँ विभिन्न राजनीतिक दलों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जिस भाँति रूस में साम्यवादी दल का सर्वग्रासी नियंत्रण था, इटली और जर्मनी में क्रमशः नाजी और फासिस्ट दलों का पूर्ण प्रभुत्व था। इन सभी एक दलीय शासन-प्रणालियों में विचार-स्वातंत्र्य पर अंकुश रखा जाता था और जनता को केवल वही विचार और मत रखने के लिए बाध्य किया जाता था जो सत्तारूढ़ दल की नीति से मेल खाते थे। एकदलीय पद्धति वाले देशों में निर्वाचन खेल होते थे और सभी प्रत्याशी सत्तारूढ़ दल द्वारा नामनिर्देशित होते थे।

लोकतंत्रात्मक देशों में प्रत्येक राजनीतिक दल की यह चेष्टा रहती है कि वह अपनी सदस्य-संख्या को अधिक से अधिक करना चाहते हैं। इसके विपरीत अधिनायकवादी देशों के राजनीतिक दल अपनी सदस्य-संख्या को सीमित रखते हैं इसके कई कारण हैं–(1) सीमित सदस्य-संख्या के कारण इन दलों का कठोर अनुशासन बना रहता है। (2) इससे जनता के सामने यह प्रचार किया जा सकता है कि दल का सदस्य केवल कुछ चुने हुए लोगों को उनके विशिष्ट गुणों के कारण ही बनाया जा सकता है। (3) दल की सदस्यता एक पारितोषिक समझी जाती है और यह केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त होती है, जिन्होंने दल की विशेष सेवा की हो।

अधिनायकवादी देशों में राजनीतिक दलों के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे दल के लिए अपना सब कुछ त्यागने के लिए प्रस्तुत रहें। इस सम्बन्ध में नाजी दल और साम्यवादी दल दोनों के प्रलेख अपने सदस्यों को यह स्पष्ट हिदायत देते हैं कि उन्हें अपने नेताओं के आदेश पर दल के हितार्थ सब कुछ करना होगा। चूँकि इन दलों के नेताओं में अपने को पूर्ण मानने की भावना होती है। अतः वे समय-समय पर दल से अवांछनीय तत्त्वों को निकालते भी रहते हैं या दूसरे शब्दों में दल शुद्धि (Party Purges) करते रहते हैं। इन दल-शुद्धियों में हजारों-लाखों व्यक्तियों को अभियोग का दिखावा करके मौत के घाट उतार दिया जाता है।

लोकतंत्रात्मक देशों के विपरीत अधिनायकवादी देशों के राजनीतिक दलों के पास अपने सैनिक संगठन भी होते हैं। नाजी दल में स्टार्म ट्रूपर्स, एलाइट गार्ड्स और गेस्टापो, फासिस्ट दल में मिलिशिया और ओ.बी.आर.ए. और साम्यवादी दल में रेड गार्ड तथा ओ.जी.पू. बड़े सशक्त सैनिक संगठन थे। ये संगठन दो कार्य करते थे–विरोधी पक्ष का दमन और सैनिक शक्ति द्वारा शासन की रक्षा।

एक दल पद्धति में राजनीतिक दलों के नेता अपने अनुयाइयों की निष्ठा बनाए रखने के लिए भावनात्मक अपीलों और प्रदर्शनपूर्ण समारोहों का आश्रय लेते हैं। इसके साथ ही साथ वे शासन के समस्त महत्त्वपूर्ण पदों पर केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्ति करते हैं जिनकी दलगत निष्ठा असंदिग्ध होती है।

12.6. दलपद्धति के गुण-दोष (Merits and Demerits of Party-system)

दलपद्धति के गुण-राजनीतिक दलों के विविध क्रिया-कलापों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि प्रतिनिधिक शासन की सफलता के लिए अपरिहार्य हैं। बर्क के शब्दों में, "दलगत भेदों को, चाहे उनसे भलाई हो, या बुराई स्वतंत्र शासन से पृथक् नहीं किया जा सकता।"

(1) जन जागृति–राजनीतिक दलों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे जनता में राजनीतिक जागृति लाते हैं उसे महत्त्वपूर्ण समसामयिक समस्याओं से अवगत रखते हैं। सामान्यतया राजनीति के विविध प्रश्नों

छात्र क्रियाकलाप

1. राजनीतिक दल का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. द्विदल पद्धति एवं बहुदल पद्धति से आप क्या समझते हैं?

पर जनता के विचार बहुत कुछ विशृंखलित और असंबद्ध से होते हैं। राजनीतिक दल इन विचारों में समन्वय और सामंजस्य लाते हैं। नागरिकों की विभिन्न निष्ठाओं के बीच भी उचित समन्वय लाने का श्रेय राजनीतिक दलों को ही प्राप्त हैं। राजनीतिक दल अपनी नीतियों के पक्ष में प्रचार करते हैं और जनता को मूल्यवान राजनीतिक शिक्षा देते हैं। सभी राजनीतिक दल निर्वाचकों से अपने लिए समर्थन की माँग करते हैं। चूँकि विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों और सिद्धांतों में एक-दूसरे से काफी भेद होता है, इसलिए निर्वाचकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे सभी राजनीतिक दलों के सिद्धांतों और कार्यक्रमों का तुलनात्मक अध्ययन करें और फिर जिस राजनीतिक दल के सिद्धांत और कार्यक्रम को सबसे अच्छा समझें, उसे अपना मत दें। इस प्रक्रिया से जनता के अंदर राजनीतिक चेतना का प्रसार होता है जो लोकतंत्र की सफलता के लिए अनिवार्य है।

नोट

(2) निर्वाचन–राजनीतिक दलों से बड़ा लाभ यह है कि वे निर्वाचनों को सुगम कर देते हैं। यदि देश में सुसंगठित राजनीतिक दल न हों, तो निर्वाचनों में उम्मीदवार बड़ी संख्या में खड़े हो सकते हैं। राजनीतिक दलों के कारण निर्वाचनों में प्रत्याशी सीमित संख्या में ही खड़े होते हैं। इससे जनता को भी सहूलियत रहती है और वह यह आसानी से तय कर सकती है कि किस प्रत्याशी को अपना मत दे। यदि निर्वाचनों में ज्यादा प्रत्याशी खड़े हों, तो मतदाताओं को यह निश्चित करने में कि वे किसे अपना मत दें और किसे न दें, बड़ी कठिनाई हो सकती है। इसके अलावा यदि अभ्यर्थी स्वतंत्र रूप से खड़े होते हैं, तो उन्हें अपने पक्ष में प्रचार में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। उनके पास अक्सर उन साधनों का अभाव होता है जिनसे निर्वाचनों में सफलता प्राप्त की जा सकती है। राजनीतिक दल निर्वाचनों में प्रत्याशियों को सब प्रकार की सहायता देते हैं।

(3) शासन और जनता का संपर्क–राजनीतिक दल शासन और जनता के बीच संपर्क कायम रखने के अचूक साधन हैं। वे शासन की नीतियों की जनता के समाने व्याख्या करते हैं और जनता की शिकायतों व माँगों को सरकार तक पहुँचाते हैं। राजनीतिक दलों के फलस्वरूप सरकार का जनता से संपर्क बना रहता है और वह लोकमत के उतार व चढ़ाव को परखती है। चूँकि दलगत सरकारें जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं, अतः वे लोकमत को अपने पक्ष में रखने के लिए यथासंभव उपाय करती हैं तथा "बाध्यता की अपेक्षा प्रेरणा को अधिक उचित और शस्त्र-संघर्ष के स्थान पर विचार-संघर्ष को अधिक रचनात्मक समझती हैं।" राजनीतिक दल सरकार की नीतियों से असंतुष्ट जनता को सरकार के प्रति विरोध प्रकट करने का सुअवसर प्रदान करते हैं। वे सशस्त्र विप्लव की संभावनाओं का अंत कर देते हैं। विरोधी राजनीतिक दलों की उपस्थिति के कारण सत्तारूढ़ दल स्वेच्छाचारी नहीं होने पाता और वह इस बात की निरंतर कोशिश करता है कि उससे कोई ऐसी गलती न हो जिससे विरोधी दल को उसकी तीखी आलोचना करने का अवसर मिले।

(4) शासन के विभिन्न अंगों में संतुलन–संसदीय शासन राजनीतिक दलों के बिना बिल्कुल नहीं चल सकता। इस शासन-प्रणाली में मंत्रिमंडल को इस बात की निरंतर आवश्यकता बनी रहती है कि उसे व्यवस्थापिका के बहुमत के सदस्यों का समर्थन मिलता रहे। जहाँ व्यवस्थापिका का बहुमत इस समर्थन से अपना हाथ खींच लेता है, वहाँ सत्तारूढ़ मंत्रिमंडल को अपना स्थान रिक्त करना पड़ता है और उसके स्थान पर नए मंत्रिमंडल की स्थापना होती है। यदि देश में सुसंगठित राजनीतिक दल न हों तो मंत्रिमंडल को इस प्रकार का जन-समर्थन प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है और इस दशा में यह संभव है कि मंत्रिमंडलों का उत्थान-पतन बड़ी शीघ्रता से हुआ करे। इसके परिणाम स्वरूप शासन बिल्कुल अस्तव्यस्त हो सकता है और मंत्रिमंडल में यह शक्ति नहीं रहती कि वह किसी ठोस नीति का अनुसरण कर सके। अध्यक्षात्मक शासन शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत पर आश्रित होता है। इसमें भी राजनीतिक दलों की बहुत आवश्यकता रहती है क्योंकि जब कभी शासन के विभिन्न विभागों के बीच मतभेद पैदा हो जाता है, तब राजनीतिक दल ही उनमें सामंजस्य और संतुलन लाने की चेष्टा करते हैं। संघात्मक राज्यों में अवयवी एककों की सरकारों व केंद्रीय सरकार के बीच जब-तब मतभेद पैदा होते रहते हैं। राजनीतिक दल यहाँ भी मतभेदों को दूर करने में अग्रसर होते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय लाते हैं और उनके कार्य को आसान कर देते हैं। अतः शासन के विभिन्न अंगों का सुचारु रूप से संचालन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि राजनीतिक दलों का संगठन कैसा है। यदि राजनीतिक दलों का संगठन सशक्त और सुव्यवस्थित हुआ, तो शासन के सभी अंग अपना

कार्य सुसंबद्ध रीति से करेंगे और यदि राजनीतिक दलों के संगठन में शिथिलता हुई, तो शासन में भी अव्यवस्था आ सकती है।

दलपद्धति के दोष–राजनीतिक दलों के जिन लाभों की हमने ऊपर सूची प्रस्तुत की है, वह देखने में बड़ी प्रभावोत्पादक प्रतीत होती है। लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि दलपद्धति में कई दोष भी हैं।

नोट

(1) जनता का विरोधी शिविरों में विभाजन–राजनीतिक दलों के ऊपर सबसे बड़ा दोषारोपण यह है कि वे जनता को कई विरोधी शिविरों के बीच विभाजित कर देते हैं और जनता के बीच भेद-भाव की दीवारें खड़ी कर देते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता को चोट पहुँचती है। कभी-कभी जनता दलगत प्रभाव में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करने लगती है।

नैतिक पतन–राजनीतिक दल-पद्धति राजनीतिक वातावरण को विषाक्त कर देती है। राजनीतिक दलवादियों में दूसरों के विचार-भेद को सहन करने की क्षमता बहुत कम होती है। वे अपने सिद्धांतों को, चाहे-उनमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, अपने प्रतिपक्षियों के सिद्धांतों से श्रेयस्कर समझते हैं। वे अपने विरोधियों के ऊपर कीचड़ उछालते कभी नहीं थकते। इसके परिणामस्वरूप राजनीति एक गंदा खेल हो जाता है और योग्य व ईमानदार व्यक्ति उससे अपना हाथ खींच लेते हैं। आधुनिक दलपद्धति में आमतौर से ऐसे ही व्यक्ति सफल हो पाते हैं जो अवसरवादी होते हैं और जनता को विमोहित करने की शक्ति रखते हैं। राजनीतिक दल अपने नेताओं को निर्भ्रांत महामानवों के रूप में चित्रित करते हैं और अपने प्रचार के द्वारा गलत बातों को सही और सही बातों को गलत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। फलतः जनता का नैतिक स्तर गिरने लगता है और वह प्रस्तुत प्रश्नों पर निष्पक्ष तथा आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करना छोड़ देती है। दल-पद्धति में पक्षपात और भ्रष्टाचार को खुलकर प्रश्रय मिलता है उदाहरण के लिए विभाजन के पूर्व राजनीतिक दलों ने भारत के सामाजिक व राजनीतिक वातावरण को अत्यंत दूषित कर दिया था। राजनीतिक दलों की दृष्टि में मुख्य उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वे उचित-अनुचित सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं।

(2) जनता का अंधानुकरण–दलगत शासन जनता का अनुचर होता है। चूँकि उसकी दृष्टि सदैव निर्वाचनों पर ही लगी रहती है, अतः वह जनता का अधिक से अधिक समर्थन प्राप्त करने के लिए कभी-कभी खराब कानूनों का भी निर्माण कर देता है और इन कानूनों से देश की अपरिमित हानि होती है। यदि कोई कानून आगे चलकर देश के लिए लाभदायक सिद्ध हो, लेकिन फिलहाल उसे जनता पसंद न करती हो, तो दलगत शासन में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह उस कानून को पास कर दे और आवश्यकता पड़ने पर जनता के विरोध का सामना कर सके।

(3) दलनिष्ठा के मूल्य पर योग्यता का तिरस्कार–दलपद्धति में एक बड़ा दोष यह है कि इसमें दलनिष्ठा के मूल्य पर योग्यता का तिरस्कर किया जाता है। जिस दल को निर्वाचनों में बहुमत प्राप्त होता है, वही दल शासन पर अपना नियंत्रण रखता है। दूसरे दल के सदस्य चाहे कितने ही योग्य हों, उन्हें शासन-कार्य में कोई स्थान नहीं मिलता। अमरीका में पहले दलपद्धति का एक दूषित रूप यह दिखाई देता था कि ऊँचे सार्वजनिक पदों को विजयी राजनीतिक दलों का पुरस्कार समझा जाता था। जिस राजनीतिक दल का प्रत्याशी राष्ट्रपति निर्वाचित होता था, वह ऊँचे-ऊँचे पदों से पूर्ववर्ती दल से संबंध रखने वाले अधिकारियों को हटाकर उन पर अपने दल के सदस्यों को नियुक्ति करता था। इस प्रथा का शासन के सुचारु संचालन पर बहुत बुरा असर पड़ता है। इस प्रकार, दलपद्धति बहुधा राज्य को सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित कर देती है।

(4) व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात–राजनीतिक दल अपने सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात करते हैं। यदि सदस्य दल की किसी नीति से सहमत नहीं होता, तो अनुशासन की दुहाई देकर उससे यह माँग की जाती है कि वह दल के आदेशों को शिरोधार्य करेगा। आजकल के राजनीतिक दल हॉब्स के 'लेवियाथन' बन गए हैं।

(5) विधानमंडलों की शक्ति का अपव्यय–दलपद्धति के कारण विधान-मंडलों की शक्ति का अपव्यय होता है। लॉर्ड ब्राइस का यह कहना सही है कि, "दलपद्धति के कारण संसद रणभूमि बन जाती है।" सत्तारूढ़ दल तो स्वयं को सत्तारूढ़ बनाए रखने की चेष्टा करता है और विरोधी दल उससे संघर्ष करने में देश के हित उपेक्षित हो जाते हैं। यदि विधान-मंडल के सदस्य किसी विधेयक को पसंद नहीं करते,

तो वे उसको लेकर घंटों वाद-विवाद करते रहते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय धन तथा समय का व्यर्थ में ही अपव्यय होता है।

(6) दलपद्धति में सुधार की योजनाएँ–ऊपर हमने दलपद्धति के जिन दोषों की चर्चा की है, वे अधिकांश में सच्चे हैं और उन्होंने हमारे सामाजिक व राजनीतिक जीवन में नई समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। दलपद्धति के इन दोषों को दृष्टि में रख कर कुछ लेखकों ने यह सुझाव दिया है कि राजनीतिक दलों का उन्मूलन ही कर देना चाहिए। उदाहरण के लिए अलैक्जेंडर पोप ने कहा है कि–"दलपद्धति थोड़े से लाभ के लिए अनेकों का पागलपन है। "दलपद्धति के आलोचकों का कहना है कि आजकल के राजनीतिक दल अपनी स्वार्थपरता के कारण लोकतंत्र के विकास में साधक नहीं प्रत्युत् बाधक बन गए हैं और सच्चे लोकतंत्र की स्थापना तभी हो सकती है जब राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया जाए और शासन की बागडोर ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहे जो प्रत्येक समस्या पर व्यापक राष्ट्रीय दृष्टि से विचार कर सकें।

नोट

यद्यपि उक्त आलोचना में काफी सच्चाई है लेकिन राजनीतिक और सामाजिक विकास के वर्तमान स्तर पर राजनीतिक दलों का उन्मूलन न संभव है न वांछनीय। राजनीतिक दलों के उन्मूलन का सुझाव तो प्रायः ऐसा ही है कि यदि किसी व्यक्ति के सिर में दर्द हो तो उससे कहा जाए कि वह अपने सिर को ही काट दे। वर्तमान काल में राजनीतिक दल प्रतिनिधिक शासन का अनिवार्य अंग है और उनके अभाव में प्रतिनिधिक शासन का संचालन असंभव है। हाँ, यह अवश्य है कि दलपद्धति के उक्त दोषों को जहाँ तक हो सके कम किया जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि (1) दलों का निमार्ण संप्रदाय, जाति या धर्म के आधार पर न होकर सुनिश्चित आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांतों के आधार पर हो, (2) दल का नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिए, जो पहले राष्ट्रवादी हों और बाद में दलवादी (3) जनता सुशिक्षित तथा प्रबुद्ध हो और राजनीतिक समस्याओं में सक्रिय रुचि ले, (4) बहुमत और अल्पमत में सद्भाव हो जहाँ तक हो सके दोनों एक-दूसरे की इच्छाओं का पालन करें और (5) यथासंभव द्विदल प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाए।

12.7. भारत के राजनीतिक दल (Indian Political Parties)

आजादी से पहले भारत में प्रमुख राजनीतिक दल इंडियन नेशनल कांग्रेस था। इस दल की स्थापना 1885 में ए.ओ. ह्यूम नामक एक सेवा निवृत्त पदाधिकारी के प्रयत्नों से हुई थी। शुरू में इस दल की नीति उदारवादी थी और वह प्रस्तावों, वक्तव्यों का प्रतिनिधित्व चाहता था।

समय के साथ इंडियन नेशनल कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता गया। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के नेतृत्व में संचालित राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव कम करने के लिए मुस्लिम पृथक्तावादियों को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना की। मुस्लिम लीग की प्रतिक्रियास्वरूप कुछ वर्ष बाद हिंदू महासभा की स्थापना हुई।

1915 में दक्षिण अफ्रीका में अपना सत्याग्रह आंदोलन की समाप्ति के बाद गाँधी जी भारत वापस लौटे 1920 तक उन्होंने कांग्रेस पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। उदार कांग्रेसी नेता कांग्रेस से बाहर निकल गए और उन्होंने उदारवादी संघ का गठन किया।

असहयोग आंदोलन के दिनों में गाँधी जी ने देश को एक वर्ष के भीतर स्वराज दिलाने का आश्वासन दिया था। उनका यह आश्वासन पूरा नहीं हो सका और 1923 में चितरंजन दास तथा मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के ही विधायी पक्ष में स्वराज दल की स्थापना की। स्वराजवादियों ने विधानमंडलों में उल्लेखनीय कार्य किया। 1926 के चुनावों में स्वराजदल को विशेष सफलता नहीं मिली और कांग्रेस दल का नेतृत्व फिर से गाँधी के हाथों में आ गया।

ब्रिटिश सरकार के प्रोत्साहन से मुस्लिम लीग की शक्ति बढ़ती गई। 1940 में उसने द्विराष्ट्र सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान की माँग पेश की। 15 अगस्त, 1947 को देश का विभाजन हो गया और भारत तथा पाकिस्तान दो स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना हुई।

आजादी के बाद प्रायः 20 वर्ष तक कांग्रेस भारत का प्रमुख राजनीतिक दल बना रहा तथा केंद्र और राज्यों में कांग्रेस की सरकारें बनती रहीं।

छात्र क्रियाकलाप

1. दलपद्धति के दोषों को संक्षेप में लिखिए

2. भारत के राजनीतिक दलों का वर्णन कीजिए।

1967 में कांग्रेस का विभाजन हो गया। कांग्रेस के एक अंग की नेता श्रीमती इंदिरा गाँधी बनीं तथा दूसरे के नेता मोरारजी देसाई, नीलम संजीव रेड्डी, एस.के. पाटिल, कामराज तथा निजलिंगप्पा आदि। इस बीच देश में समाजवादी, साम्यवादी और प्रादेशिक तत्त्वों का भी उत्कर्ष हुआ। 1977 में आपात-स्थिति के बाद छठी लोकसभा के लिए जो चुनाव हुए, सभी गैर-साम्यवादी विरोधी दल एक मंच पर आ गए। ये दल थे कांग्रेस (संगठन), जनसंघ भारतीय लोकदल और समाजवादी दल। उन्होंने मिलकर जनता पार्टी का निर्माण किया, जिसके नेता जगजीवन राम थे।

1989 में लोकसभा के लिए चुनाव हुए। चुनावों में आठ राष्ट्रीय दलों, बीस राज्य स्तरीय दलों तथा नवासी अन्य पंजीकृत दलों ने भाग लिया। चुनावों से पहले वी.पी. सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस (आई) के कुछ नेताओं ने अपना पुराना दल छोड़कर जनता दल नामक एक नए दल का निर्माण किया था जिसमें जनता पार्टी लोकतंत्र (ए), लोकदल (बी.) तथा कुछ और दल शामिल किए गए थे। कांग्रेस विरोधी विभिन्न दलों ने नेशनल फ्रंट का निमार्ण किया बहुजन समाज पार्टी, फारवर्ड ब्लाक, क्षारखंड मुक्ति मोर्चा, नेशनल कान्फ्रेंस, मुस्लिम लीग (एस), तेलगू देशम् कांग्रेस (एस), इंडियन पीपुल्स फ्रंट, आल इंडिया मजलिसे-इत्तदुल मुसलिमीन, केरल कांग्रेस-एस, सिक्किम संग्राम परिषद्, मार्क्सिस्ट कोआर्डिनेशन, महाराष्ट्रवादी गोमंतक पार्टी, शिवसेना, अखिल भारतीय हिंदू महासभा, जी.न.ल.फ. निर्दलीय।

1989 के निर्वाचन परिणामों से यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस पार्टी का दक्षिण भारत के राज्यों में जोर था। उत्तर भारत के राज्यों में जनता दल तथा भारतीय जनता पार्टी को अधिक स्थान प्राप्त हुए। इस बार लोकसभा में 24 दलों के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए थे। भारत के संसदीय इतिहास में यह पहला मौका था जब मतदान में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। वी.पी.सिंह ने भारतीय जनता पार्टी तथा वामपंथी दलों के सहयोग से अल्पसंख्यक सरकार का निर्माण किया।

जून 1991 में दसवीं लोकसभा के लिए आम चुनाव हुए। इन चुनावों में कांग्रेस को सबसे ज्यादा स्थान मिले। दूसरे नंबर पर भारतीय जनता पार्टी थी और तीसरे नंबर पर जनता दल। पी.वी. नरसिंहराव की अगुवाई में कांग्रेस ने अपनी सरकार बनाई जो 1996 तक चली।

मई 1996 में ग्यारहवीं लोकसभा के लिए आम चुनाव हुए। इन चुनावों में निम्नलिखित राष्ट्रीय दलों ने भाग लिया—(1) अखिल भारतीय इंदिरा कांग्रेस (तिवारी), (2) भारतीय जनता पार्टी, (3) भारतीय कांग्रेस कम्युनिस्ट पार्टी, (4) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), (5) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, (6) जनता दल, (7) जनता पार्टी और (8) समता पार्टी। चुनावों में 30 राज्य स्तरीय दलों ने भाग लिया। इनके अलावा एक सौ इकहत्तर अन्य पंजीकृत दलों के उम्मीदवार चुनाव के अखाड़े में उतरे। ग्यारहवीं लोकसभा कुल 18 महीने चली। सभा ने तीन सरकारों का बनना-बिगड़ना देखा। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी भारतीय जनता पार्टी की सरकार सिर्फ 13 दिन चली। इसके बाद क्रमशः एच.डी. देवगौड़ा और इंद्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में मिली-जुली सरकारें बनीं। लेकिन दोनों बार कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस लिए जाने पर इन सरकारों का पतन हो गया।

बारहवीं लोकसभा के लिए फरवरी-मार्च, 1998 में आम चुनाव हुए। इन चुनावों में सात राष्ट्रीय राजनीतिक दलों, तीस राज्य-स्तरीय राजनीतिक दलों और एक सौ उन्तालीस अन्य पंजीकृत राजनीतिक दलों ने भाग लिया। चुनावों की समाप्ति पर भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में अटल बिहारी वाजपेयी की गठबंधन का निर्माण हुआ। इसमें भारतीय जनता पार्टी तथा उसके सहयोगी दलों को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में उभरी। उसने 23-24 राजनीतिक दलों के सहयोग से गठबंधन सरकार का निर्माण किया जो 2004 तक चली।

वाजपेयी की राष्ट्रीय राजनीतिक गठबंधन सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा होने से पहले ही मध्यावधि चुनाव कराए। चुनाव में पासा पलट गया। कांग्रेस और उसके सहयोगी दलों को लोकसभा में सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए। पूर्व वित्तमंत्री, डा. मनमोहन सिंह ने प्रधानमंत्री पद की बागडोर संभाली, जो मुख्य रूप से वामपंथी दलों के सहारे टिकी है।

भारत के केंद्र राज्यों दोनों स्तरों पर संसदीय शासन-प्रणाली को अपनाया है। इस शासन-प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इंग्लैंड है जो पिछली कई सदियों से द्विदल पद्धति के आधार पर चल रही है। द्विदल पद्धति संसदीय शासन-प्रणाली की सफलता की आवश्यक शर्त है। भारत में अभी तक स्पष्ट द्विदल पद्धति का विकास नहीं हो सका है। इस समय भारत का कोई एक राजनीतिक दल इस स्थिति में नहीं

नोट

है कि वह अपने बल पर सरकार बना सके। केंद्र में तथा अनेक राज्यों में मिली-जुली सरकारें चल रही हैं।

भारत के राजनीतिक दलों में सुधार की गुंजाइश है। दलों का आंतरिक संगठन पूरी तरह लोकतंत्रवादी नहीं है। समय पर चुनाव नहीं होते। दलों के आर्थिक स्रोतों की पक्की जानकारी नहीं है। दल व्यक्ति-केंद्रित हैं। प्रादेशिक दलों में अखिल दलों में भारतीय दृष्टि का अभाव है।

नोट

12.8. सारांश (Summary)

राजनीतिक दलों का स्वरूप और कार्य—लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता राजनीतिक दलों का उत्कर्ष है। लोकतंत्र के संगठन और निर्माण में उनका निर्णायक भाग रहता है। राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनका लक्ष्य मतदान की शक्ति के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियंत्रण स्थापित करना और सामाजिक हित के लिए अपने कार्यक्रम को पूरा करना है। राजनीतिक दल की रचना के लिए निम्नलिखित तत्त्वों की आवश्यकता है—(1) संगठन, (2) विचारधारा, (3) राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य, (4) शांतिपूर्ण उपायों का प्रयोग, और (5) राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का प्रयास।

जो राजनीतिक दल वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तन करना चाहते हैं, उन्हें वामपंथी और जो स्थिति को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहते हैं, उन्हें दक्षिणपंथी कहते हैं। राजनीतिक दलों के निर्माण का मुख्य आधार आर्थिक होता है। भारत में साम्प्रदायिक आधार पर भी अनेक दलों का निर्माण हुआ है।

राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना साहित्य तैयार करते हैं। और जनता के बीच उसका प्रचार करते हैं। वे लोकमत को शिक्षित, निर्मित और संगठित करते हैं, निर्वाचनों में भाग लेते हैं। सरकार का निर्माण करते हैं और विपक्ष की भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक दलों का एक काम विधानमंडल में निर्वाचित सदस्यों के बीच एकता और अनुशासन बनाए रखना है। वे सरकार तथा जनता के बीच संपर्क-सूत्र साधे रखते हैं।

अधिनायकवादी देशों में राजनीतिक दलों का कार्य लोकतंत्रात्मक देशों के राजनीतिक दलों के कार्यों से भिन्न होता है। वहाँ एक ही राजनीतिक दल होता है और उसका कार्य जैसे भी हो सरकार के लिए जनता का समर्थन जुटाना है।

द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति—जिस देश में दो दल होते हैं, वहाँ द्विदल-पद्धति होती है और जहाँ बहुत से दल होते हैं, वहाँ बहुदल पद्धति होती है। इंग्लैंड और अमरीका द्विदल पद्धति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इंग्लैंड इन्हीं दो राजनीतिक दलों के ऊपर निर्भर है। अमरीका में दो सर्वमान्य राजनीतिक दल रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल हैं।

संसदीय शासन की सफलता के लिए द्विदल पद्धति आवश्यक है। इस पद्धति में सरकार अधिक दृढ़ और स्थिर रहती है। द्विदल के अंतर्गत विरोधी दल भी बहुत शक्तिशाली होता है।

द्विदल पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह निरंकुश बहुमत की सृष्टि करती है। द्विदल पद्धति के दोष ही बहुदल पद्धति के गुण हैं। इसमें सत्तारूढ़ दल के स्वेच्छाचारी होने का भय नहीं रहता। बहुदल पद्धति में संयुक्त सरकारों का निर्माण होता है। इससे विभिन्न दलों के बीच समझौते की प्रवृत्ति बढ़ती है।

बहुदल पद्धति के दोष बहुत गंभीर हैं। इनमें मंत्रिमंडलों का उत्थान और पतन जल्दी-जल्दी होता है। सत्तारूढ़ दल विधि-निर्माण का कोई सुनिश्चित कार्यक्रम दृढ़ता से लागू नहीं कर सकता। बहुदल पद्धति दलगत अनुशासन को नष्ट कर देती है और राजनीतिक षड्यंत्रों तथा सौदेबाजी को प्रोत्साहित करती है।

एकदलीय पद्धति—एकदलीय पद्धति का उदय प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् साम्यवादी रूस और फासिस्ट देश इटली तथा नाजी जर्मनी में हुआ था। इस पद्धति में शासन की संपूर्ण शक्ति एक राजनीतिक दल के हाथों में केंद्रित होती है। रूस में यह दल साम्यवादी दल था, इटली में फासिस्ट दल और जर्मनी में नाजी दल। एकदलीय प्रणाली में विचार-स्वातंत्र्य पर अंकुश रखा जाता है। जनता को केवल वही विचार और मत रखने होते हैं जो सत्तारूढ़ी चाहते हैं और सभी उम्मीदवार सत्तारूढ़ दल द्वारा नामजद किए जाते हैं। इस पद्धति में राजनीतिक दलों के सदस्यों से पूर्ण निष्ठा की अपेक्षा की जाती है। एक दल

वाले देशों में राजनीतिक दलों के पास अपने सैनिक संगठन भी होते हैं। वे समय-समय पर अवांछनीय तत्त्वों को दल से निकालते रहते हैं। इस प्रक्रिया में हजारों-लाखों लोग मौत के घाट उतार दिए जाते हैं।

दल पद्धति का मूल्यांकन–दल पद्धति के प्रमुख गुण हैं–(1) राजनीतिक दल जनता में जागृति लाते हैं और उसे सम-सामायिक समस्याओं से अवगत कराते हैं। (2) वे निर्वाचनों को सुगम कर देते हैं। यदि देश में सुसंगठित राजनीतिक दल न हों, तो निर्वाचनों में उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में खड़े हो सकते हैं। (4) राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में संतुलन की स्थापना करते हैं।

नोट

दल पद्धति के मुख्य दोष हैं–(1) वे जनता को कई विरोधी शिविरों के बीच विभाजित कर देते हैं। (2) राजनीतिक दल पद्धति राजनीतिक वातारण को विषाक्त कर देती है। (3) दलगत शासन जनता का अनुचर होता है। वह लोगों का समर्थन पाने के लिए कभी-कभी अनुचित कानूनों का भी निर्माण कर देता है। (4) दलगत शासन में दल-निष्ठा के मूल्य पर योग्यता का तिरस्कार किया जाता है। (5) राजनीतिक दल अपने सदस्यों की स्वतंत्रता पर आघात करते हैं (6) दल पद्धति के कारण विधानमंडलों की शक्ति का अपव्यय होता है।

12.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक दल से क्या अभिप्राय है? परिभाषा सहित स्पष्ट कीजिए।
2. द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. एकदलीय पद्धति क्या है? स्पष्ट कीजिए।
4. दल पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।
5. दल पद्धति में सुधार की योजनाओं को लिखिए।

□□□

नोट

अध्याय-13

दबाव समूह
(Pressure Groups)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

13.1. उद्देश्य (Objectives)
13.2. परिचय (Introduction)
13.3. दबाव समूह की परिभाषा (Definition of Pressure Group)
13.4. दबाव समूह के उद्देश्य के कारण (Cause of Rising Pressure Group)
13.5. दवाव समूह की विशेषताएँ (Characteristics of Pressure Group)
13.6. दबाव समूह के प्रकार (Types of Pressure Group)
13.7. दबाव समूह के कार्य (Works of Pressure Group)
13.8. दबाव समूह के गुण (Merits of Pressure Group)
13.9. दबाव समूह के दोष (Demerits of Pressure Group)
13.10. प्रतिनिधित्व समूह के सिद्धांत (Principle of Representation Groups)
13.11. सारांश (Summary)
13.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

13.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- दबाव समूह का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य को समझने में;
- दबाव समूह के प्रकार और विशेषताओं को समझने में;
- दबाव समूह के कार्य और गुण-दोषों को जानने में;
- दबाव समूह के सिद्धांतों को जानने में।

13.2. परिचय (Introduction)

दबाव समूह उसे कहते हैं जो अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति के लिए सरकार की नीति और कार्यों को संपन्न करने में प्रभावित करने की क्षमता रखने वाले समूह को कहा जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह पाए जाते हैं। इनका अपना अलग अस्तित्व होता है। इनके अपने राजनीतिक सिद्धांत, अपने कार्यक्रम, उद्देश्य होते हैं। जिनके लिए राष्ट्रव्यापी संगठन के रूप में सक्रिय भूमिका निर्वाह करते हैं। राज्य और शासन-नीति को प्रभावित करने की इनमें असीम शक्ति एवं क्षमता होती है।

दबाव समूह विशेष एवं विशिष्ट हितों के लिए बनते हैं। इन्हें संपन्न करने के लिए ही व्यापक क्षेत्र भी निर्धारित करते हैं। ये राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक हितों की पूर्ति के लिए निरंतर कार्यरत रहते हैं। यह प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक व्यवस्था में लगे हुए व्यक्तियों को प्रभावित करने की संगठनात्मक प्रतीक के समूह को ही दबाव समूह कहा जाता है।

नोट

दबाव समूह राजनीतिक दलों की तरह संगठित नहीं होते हैं। यह चुनाव कभी भी नहीं लड़ते हैं। राष्ट्र की समस्याओं और हितों से ही इनका सीधा संबंध होता है। दबाव समूह राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ प्रशासन पर भी अपना दबाव बढ़ाता रहा है। इससे इसकी प्रभावशाली भूमिका बढ़ गई है।

इसकी शृंखला में एक नहीं अनेक संगठन शामिल होते हैं। ऑल इंडिया मजदूर संगठन, रेलवे मजदूर फेडरेशन संघ, ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन संगठन, कर्मचारी संगठन, डॉक्टर एवं इंजीनियर्स संगठन आदि इसी क्रम में माने जाते हैं। इस तरह दबाव समूह को हित समूह भी कहा जाता है। आजकल यही नाम ज्यादा चर्चा का विषय बना हुआ है।

13.3. दबाव समूह की परिभाषा (Definition of Pressure Group)

इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी गई है–

1. माइनर वीनर के शब्दों में–"दबाव समूह से तात्पर्य प्रशासनिक ढाँचे से बाहर अपनी इच्छा से संगठित ऐसे गुटों से हैं जो प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति चुनाव, विधि निर्माण, और सरकारी नीति को प्रभावित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील ही रहते हैं।"[1]

2. सत्य नारायण दुबे के शब्दों में–"शासन पर अधिकार जमाने का प्रयास किए बिना विधायकों और प्रशासकों की नीति तथा कार्यों को प्रभावित करने का प्रयास करता है वह दबाव समूह कहलाता है।"

3. हेनरी ए. टर्नर के शब्दों में–"दबाव समूह दरअसल एक गैर राजनीतिक संगठन है जो लोक नीति के लिए कभी भी प्रभावित करने का प्रयास करता रहता है।"

4. एच. जेग्लर के शब्दों में–"दबाव समूह एक ऐसा संगठित समूह है जो अपने सदस्यों को सरकारी पदों पर पदस्थापित किए बिना भी सरकारी निर्णय को प्रभावित करने की तीव्र इच्छा रखता है।"

5. कैसिल्स के शब्दों में–"दबाव समूह उसे कहते हैं जो शासकीय गतिविधियों द्वारा या उनके बिना ही राजनीतिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न करे और जो उस समय स्वयं किसी विधायिका में प्रतिनिधित्व प्राप्त राजनीतिक दल के रूप में न हो।"

6. एम. जी. गुप्ता के शब्दों में–"दबाव समूह या हित समूह एक ऐसा माध्यम है जिससे सामान्य उद्देश्य वाले व्यक्तियों द्वारा सार्वजनिक मामलों की कार्यवाही को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है। इस दृष्टि से हर सामाजिक समूह जो औपचारिक रूप से शासन पर नियंत्रण किए बिना ही प्रशासकीय एवं विधायी दोनो प्रकार के राजनीतिक पदाधिकारियों के आचरण को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। दबाव समूह या हित समूह कहलाता है।"

7. एक्सटीन के शब्दों में–"दबाव गुट राजनीतिक समूहों के पूर्ण राजनीतिकरण से कुछ कम का और पूर्ण अराजनीतिकरण के बीच एक अंतरवर्ती स्वर का निर्माण करती है।"

8. वी. ओ. की के शब्दों में–"ये शब्द (दबाव समूह) ऐसे बदमाश लाबीबाज की तस्वीर मानस पटल पर उभारते हैं जो सदाचारी विधायक को जनहित में अपने विवेकानुसार आचरण नहीं करने देता और उसे पथभ्रष्ट करने के हथकंडे इस्तेमाल करने की कोशिश करता है।"

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि हित समूह का कार्य शासन की नीतियों और प्रशासकों को प्रभावित कर निर्णय परिवर्तन कराने का मुख्य उद्देश्य रखते हैं। यह सार्वजनिक लोक हितों के लिए कभी भी प्रकट हो सकते हैं।

यद्यपि इनका अस्तित्व हमेशा बना रहता है। फिर भी ये अदृश्य शक्ति के रूप में रहकर कार्य करते हैं। यह अपने हितों को स्पष्ट करता है और उन्हीं की रक्षा करने का सर्वोच्च कार्य करता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. दबाव समूह की शृंखला में कौन-कौन से संगठन आते हैं?

2. एम.जी. गुप्ता द्वारा दी गई दबाव समूह की परिभाषा को लिखें।

13.4. दबाव समूह के उद्देश्य के कारण (Cause of Rising Pressure Group)

नोट

इनका अस्तित्व अचानक प्रकट नहीं हुआ है। बल्कि इनके लिए निम्न बिंदु उत्तरदायी हैं।

1. औद्योगिक संपन्नता की उपज—पूंजीवादी, समाजवादी, मिश्रित समाजवादी व्यवस्थाओं ने बड़े-बड़े उद्योगों की उत्पति करके मानव सभ्यता को बदलने का प्रयास किया था। इसी तरह औद्योगिक सभ्यता ने मजदूर, कमजोर वर्ग, समूह, समुदायों में विभाजित करके अपने-अपने हितों की रक्षा करने की क्षमता का विकास करके प्रत्येक को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से दबाव समूह का उदय करने की पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया। सभी के अपने-अपने हितों की रक्षा करने के लिए जागरूक होने से इसकी उत्पत्ति हुई है।

2. राज्यों के कार्यों में प्रगतिशीलता होना—वर्तमान युग प्रगति का युग है। इसलिए राज्य के कार्यों में असीमित वृद्धि हो जाने से दबाव समूह के उत्पन्न होने का कारण माना जाता है। राज्य का व्यापक रूप हो जाने से सही प्रगति हो इसे गतिशीलता बनाए रखने की भूमिका दबाव समूह ही रखते हैं।

3. लोकतंत्र का व्यवहारीकरण होना—आधुनिक युग में लोकतंत्र सैद्धांतिक नहीं होकर व्यवहारिक बनता चला जा रहा है। इसलिए शासन में हितों की रक्षा करने के लिए संगठन का निर्माण भी होना व्यवहारिक बन गया था। लोकतंत्र की सफलता अब इसी पर निर्भर होने लगी है।

4. राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई सहभागिता—आधुनिक युग में दो दलीय व्यवस्था, बहुदलीय व्यवस्था में स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक सहभागिता प्रत्येक राजनीतिक दलों की पाई जाती है। मतदाता अपने हितों के प्रति जागरूक बनता है। अपने हितों को स्पष्ट करता है। दबाव समूह अराजनीतिक संगठन होते हुए भी जनता के सदस्यों की भागीदारी प्राप्त कर लेता है।

5. निर्वाचन प्रणाली—आज के युग में निर्वाचन के बिना कोई सी भी राजनीतिक व्यवस्था का संचालन नहीं को रहा है। सभी में चुनावों की अनिवार्यता है। चुनावों के माध्यम से हितों को सुरक्षित रखा जाता है। चुनाव प्रणाली दबाव समूह की उत्पत्ति का कारण है।

6. राजनीति का व्यवसायीकरण होना—आधुनिक युग में राजनीति भौतिकवादी पहलू बनकर रह गई है। जो व्यक्ति राजनीति में लगे हुए हैं वे इसे व्यवसाय के रूप में समझते हैं, इससे अवसरवादी नेताओं की उत्पत्ति होती है। यह स्वार्थ सिद्धि का केंद्र बन गई। इसे रोकने के लिए ही हित समूह की उत्पत्ति हुई है। इससे सार्वजनिक हितों की रक्षा संभव है।

13.5. दबाव समूह की विशेषताएँ (Characteristics of Pressure Group)

इसकी निम्न विशेषताएँ इस प्रकार दी जाती हैं।

1. अनिश्चित साधनों का प्रयोग—दबाव समूह असीमित साधनों का प्रयोग कभी भी कर सकते हैं। यह नैतिक अनैतिक, हिंसात्मक संविधानिक साधनों का प्रयोग भी कर सकते हैं। यह अवसर की तलाश में हमेशा रहते हैं। इसके कार्यक्रम हमेशा गुप्त ही होते हैं। यह हड़तालें, बंद का आह्वान, विरोध, काले झंडों के प्रदर्शन का भी प्रयोग करने से दबाव समूह की शक्ति में वृद्धि निरंतर होती है।

2. परिवर्तनशील उद्देश्य—दबाव समूहों के उद्देश्य हमेशा परिवर्तनशील होते हैं। इनके उद्देश्य कभी पूरे नहीं होते हैं। एक उद्देश्य में दूसरे पूरक उद्देश्य उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी भूमिका भी बार-बार बदलती रहती है। कभी स्थाई नहीं रहती है। इनका मात्र उद्देश्य यही रहता है कि किसी न किसी तरह शासन एवं नीतियों पर दबाव निरंतर डालते रहते हैं और अपने हितों की निरंतर पूर्ति करने में लगे रहते है। इसके उद्देश्य दीर्घकालीन और अल्पकालीन भी हो सकते हैं।

3. संगठनात्मक शक्ति के प्रतीक—दबाव समूह संगठित रहते हैं। अलगाववादी तत्व नहीं पाए जाते हैं। बल्कि संगठनात्मक शक्ति के तत्व पाए जाते हैं। एक संगठन की मांगों की पूर्ति के लिए सभी संगठन समर्थन देते रहते हैं। अपनी मांगो को मनवाने के लिए संगठित हो जाते हैं। इसके सदस्य, गैर सदस्य भी अपनी-अपनी भूमिका निर्वाह कर सकते हैं। यह संगठन सरकार से मान्यता प्राप्त हो, ऐसी अनिवार्यता नहीं होती है। संगठन मनमाने तरीके से कार्य करने के लिए स्वतंत्र होता है। यह बिना सदस्यता के भी शक्तिशाली संगठन माना जाता है।

4. शासनतंत्र में भूमिका नहीं–दबाव समूह शासन नहीं करता है और न ही शासन को संचालित करता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शासन संचालन करने के लिए चुनाव में प्रतिनिधि खड़े करना, चुनाव में विजय करवाना चुनाव में दबाव समूह की मुख्य विशेषता मानी जाती है। चुनाव में दबाव समूह धन व्यय भी करता है। यह हमेशा सर्वव्यापी बने रहते हैं, इसीलिए अपना प्रभाव निरंतर बनाए रखते हैं।

नोट

5. दबाव समूह और राजनीतिक दल में अंतर है–राजनीतिक दल शासन संचालन करने के पक्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। राजनीतिक दलों के मुख्य कार्य चुनाव जीतना, सत्ता प्राप्त करना, मतदान में जागरूकता स्थापित करना आदि है। दबाव समूह में ऐसा नहीं पाया जाता है। शासन से बाहर रहकर दबाव समूह राजनीतिक व्यवस्था की नीतियों, कार्यक्रमों पर दबाव डालता है। विरोध प्रकट करवाते हैं, आंदोलन चलाए जाते हैं। इसका संचालन कौन कर रहा होता है, यह प्रत्यक्ष रूप से देखा नहीं जाता है। इसका कहीं पर भी संबंध राजनीतिक नहीं होता है। यह भिन्न–भिन्न कार्य करता है।

13.6. दबाव समूह के प्रकार (Types of Pressure Group)

दबाव समूह के प्रकार अलग-अलग राष्ट्रों में अलग-अलग प्रकार के पाए जाते हैं। किसी राष्ट्र में कम, किसी राष्ट्र में ज्यादा पाए जाते हैं। अमरीका, ब्रिटेन, भारत जैसे राष्ट्र में दबाव समूह के प्रकारों में अंतर पाया जाता है। फिर भी दबाव समूह को चार वर्गों में रखा जा सकता है।

1. संस्थागत हित समूह–इस तरह के हित समूह शासकीय प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए होता है। इसमें सरकारी विभागों के स्तर पर अनेक प्रकार के कार्यों को संपन्न किया जाता है। हित समूह संवैधानिक दृष्टि से हितों को प्रभावित करता है। इसमें कानूनी, गैर-कानूनी प्राक्रिया के विरुद्ध भी, हित समूह की भूमिका पाई जाती है। इसमें संस्थागत हितों की रक्षा करना ही मात्र इनका उद्देश्य होता है।

2. जाति, वर्ग, धर्म पर आधारित हित समूह–किसी भी जाति के हितों की रक्षा के लिए कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का संगठन हित समूह हो सकता है। इसमें वर्ग, धर्म, को भी आधार बनाया जा सकता है। धार्मिक हितों की रक्षा के लिए, महिला हितों की रक्षा के लिए, समूह कभी-कभी ही अस्तित्व में आते हैं।

3. आकस्मिक हित समूह–ऐसे हित समूह कभी-कभी ही अस्तित्व में आते हैं और हितों को पूरा करने के बाद दूसरे हितों में लीन हो जाते हैं। जैसे बंद का आह्वान कराना, हड़तालों, तालाबंदी, जुलूस, रैलियाँ, आदि का आयोजन, शासन का विरोध करना और नीतियों को प्रभावित करके व्यापक दबाव डालना ही ऐसे हित समूहों का कार्य होता है।

4. औपचारिक और अनौपचारिक हित समूह–ऐसे हित समूह औपचारिक रूप से भी पाए जाते हैं और अनौपचारिक रूप से भी पाए जाते हैं। ऐसे समूह अपने हितों की रक्षा के लिए हमेशा अपना प्रतिनिधित्व करते रहते हैं। यह निरंतर संपर्क बनाए रखते हैं। सार्वजनिक और असार्वजनिक क्षेत्र में भी सक्रिय होते हैं। इसमें उद्योगपति, पूंजीपति, अभिजन वर्ग भी शामिल होते हैं।

यह अवसर मिलने पर अनुचित साधनों का भी प्रयोग करते हैं। यह व्यवसायिक, व्यापारिक भी हो सकते हैं। यह हित समूह लाभ पाने या लाभ पहुँचाने का ही उद्देश्य बनाए हुए रहते हैं।

13.7. दबाव समूह के कार्य (Works of Pressure Group)

दबाव समूह के कार्य स्थिर नहीं होते हैं। इनके कार्यों में गतिशीलता बनी रहती है। दबाव समूह राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सुरक्षा, विकास, सांस्कृतिक, आदि क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। इस तरह इन सभी क्षेत्रों में ये ऐसे कानूनों को बनवाने का प्रयास करते हैं जो उनके हितों के अनुकूल होते हैं या नीति जो शासन व्यवस्था द्वारा बनाई जाती है उसे किसी न किसी तरह प्रभावित करके संशोधित करवा लेते हैं। इस तरह समूह ऐसे कार्य संपन्न करवा लेता है जिससे कानून के माध्यमों से उसके हितों को बरकरार रखा जा सके। इसी तरह प्रशासन पर भी नियंत्रण रखने एवं उनको प्रभावित करने का कार्य भी निरंतर करता है। ऐसी स्थिति में दबाव समूह के कार्यों को निम्न बिंदुओं में रखा जा सकता है–

1. मांगों को उत्पन्न करना–दबाव समूह अपने हित साधन के लिए मांगें उत्पन्न करके उन्हें मनवाने के लिए समुचित साधनों का प्रयोग करता है। एक बार मांग उठ जाने पर निरंतर मांग को मनवाने के लिए सक्रियता रखी जाती है। इसके लिए बार-बार हड़तालें, बंद, रैलियाँ, आदि का आयोजन किया जाता है।

2. चुनाव में प्रत्याशी खड़े करना एवं निरंतर समर्थन देना–दबाव समूह संसद/विधान सभा के उम्मीदवारों में अपने-अपने उम्मीदवार खड़े करता है। चुनाव क्षेत्र में उम्मीदवार खड़े करने के बाद वह निरंतर विजयी बनाए जाने के लिए समर्थन और धन भी देता रहता है। इसमें जन-शक्ति से भी समर्थन लिया जाता है।

ऐसा इसलिए किया जाता है कि वे अपने आदमी शासन व्यवस्था में रखेंगे तो नीतियों को बनवाने मे अपनी भूमिका निर्वाह कर सकते हैं। यह विधायकों/सांसदों को हमेशा अपने पक्ष में रखने का प्रयास करता रहता है।

3. संपर्क, भेंट, साक्षात्कार से आग्रह–दबाव समूह अपने हितों की रक्षा के लिए संपर्क निरंतर बनाए रखता है। यह शासन, प्रशासन से हमेशा संपर्क में रहता है। यह आवश्यकतानुसार भेंट, वार्ता, भी करता है। इसमें ध्यान आकर्षित करता रहता है। यदि इसके बाद भी कोई प्रगति नहीं होती है तो अंतिम रूप से न्याय की शरण हेतु न्यायालय में वाद दायर करके अपने हितों की रक्षा करता है।

4. हड़तालें, रैलियाँ, विरोध आयोजन–दबाव समूह शासन की नीतियों के विरुद्ध हड़तालें करवाने में सबसे आगे रहते हैं। कभी-कभी शासन की नीतियों के विरोध में रैलियों का आयोजन करके प्रभावित किया जाता है। दबाव समूह हमेशा असंतुष्ट समूह के रूप में ही रहता है। वह संतुष्ट होने के लिए अन्य राजनीतिक दलों से निरंतर विरोध प्रकट करवाता रहता है।

एक दबाव समूह दूसरे समूह को व्यापक समर्थन देता है इससे मांग को मनवाने में आसानी रहती है।

5. राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देना–आधुनिक युग में चुनाव लड़ने के लिए धन शक्ति का महत्त्व पाया जाता है। इसलिए राजनीतिक दलों के पास धन कहाँ से आता है और धन कौन चुनावों में देता है। इसका सही-सही लेखा नहीं रखा जाता है। चुनावों में करोड़ों रुपया आर्थिक सहायता के रूप में चुनाव में खर्चा किया जाता है। राजनीतिक दल उद्योगपतियों के सहयोग के बिना सत्ता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए राजनीतिक दल आर्थिक सहायता के बदले में उनके हितों को सुरक्षित करने का एक जरिया बना हुआ है।

6. समाज और राजनीतिक व्यवस्था में भूमिका–दबाव समूह के हितों को स्थाई रखने के लिए प्रयास करता है। यदि कभी राजनीतिक व्यवस्था और समाज के बीच सीधा संघर्ष कायम हो जाता है तो दबाव समूह समन्वयवादी भूमिका निर्वाह करता है। इसके लिए वार्ता, सुलह का आयोजन करता है। समाज में जातीय संघर्ष, धार्मिक संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष पाए जाते हैं। दबाव समूह इसमें भी अपनी भूमिका निर्वाह करता है। यह सरकारी जांच आयोगों के सामने गवाही पेश करता है। कभी-कभी अपना प्रतिनिधित्व भी करता है यह शासन की समस्त सूचनाओं को जनता तक प्रसारित करता है। यह इससे अपने हितों को पूरा करता है।

13.8. दबाव समूह के गुण (Merits of Pressure Group)

आधुनिक युग में दबाव समूह/हित समूह का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसके होने से अनेक लाभ होते हैं। फिर भी हम यह मान सकते हैं कि दबाव समूह में निम्न गुण पाए जाते हैं–

1. लोकतंत्र के पोषक–हित समूह को लोकतंत्र का पोषक माना जाता है। यह राजनीति और प्रशासन दोनों में जनता की सहभागिता बनाए रखने के लिए निरंतर प्रयास करता है। इसके साथ-साथ जनता को संगठित कर एक शक्ति के रूप में प्रदर्शित करने का भी कार्य करता है। अगर इनका अस्तित्व नहीं होगा तो लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता है। इनके बिना लोकतंत्र नाममात्र का ही रह जाएगा।

2. प्रतिनिधित्व की जागरूकता बढ़ाना–दबाव समूह जनता में प्रतिनिधित्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने का भी कार्य करता है। इससे जनता में सामाजीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है। जनता जितनी जागरूक होगी उतनी ही राजनीतिक सफलता प्राप्त होगी। इससे यह हित समूह निरंतर रूप से अपनी भूमिका निर्वाह करता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. दबाव समूह कितने प्रकार के हैं? वर्णन कीजिए।

2. दबाव समूह के गुण एवं दोषों का उल्लेख कीजिए।

3. शासकीय सूचनाओं की जानकारी प्रसारित करना–शासन में क्या होता है? कैसे नीतियाँ बनती हैं? कैसे नीतियाँ क्रियान्वित होती हैं? शासन की क्या खामियाँ होती हैं? इसकी क्या-क्या सफलता हो सकती है? इसकी वास्तविकता क्या है? इन सब के बारे में दबाव समूह सूचना जनता तक पहुँचाता है। इसके बाद जनता सक्रियता की भूमिका निर्वाह करती है। जनता स्वयं रैलियों, विद्रोह का आयोजन स्वयं करने लग जाती है। इसमें दबाव समूह नेतृत्व प्रदान करने का भी कार्य करते हैं। इससे इनका स्थान महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

नोट

13.9. दबाव समूह के दोष (Demerits of Pressure Group)

दबाव समूहों से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इससे शासन व्यवस्था के सामने निरंतर संघर्ष, समस्याएँ भी रहती हैं। जो कार्य जिस समय पर पूर्ण होना चाहिए वह वास्तव में संपन्न होता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में दूसरे ही कार्य संपन्न हो जाते हैं। इससे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

1. भ्रष्टाचार शिष्टाचार का प्रतीक होता है–राजनीति एवं प्रशासन में भ्रष्टाचार व्याप्त होता चला जाता है। इसके बिना कोई कार्य नहीं होता है। राजनेताओं का चरित्र निम्न कोटि के स्तर का हो जाता है। सभी नेता भ्रष्टाचार में लिप्त पाए जाते हैं। इसे आधुनिक युग में शिष्टाचार का प्रतीक माना जाता है शासकीय कार्यालयों में लालफीताशाही बढ़ती रहती है।

2. व्यक्तिगत स्वार्थों, हितों का महत्त्व–इसमें सार्वजनिक हितों को नकारात्मक कर दिया जाता है। इसके स्थान पर व्यक्तिगत लाभ, स्वार्थों और हितों का ही ध्यान रखा जाता है। यह राष्ट्र की सेवा करने के स्थान पर धन संग्रह का कार्य करता है। इससे राष्ट्र का विकास भी प्रभावित होता है। दबाव समूह व्यक्तिगत हितों की पूर्ति सर्वोपरि रखते हैं।

3. अलोकतांत्रिक साधनों का प्रयोग–दबाव समूह अवसरवादी होता है। यह कभी भी हितों, शक्ति एवं असंवैधानिक साधनों का प्रयोग कर सकता है। इससे कानून और शांति व्यवस्था को खतरा उत्पन्न होता है। इससे राष्ट्र के धन, जन-शक्ति को हानि पहुँचती है।

4. अन्य वर्ग के हितों की नगण्यता–दबाव समूह हमेशा अपने ही हितों को प्राथमिकता देता है, दूसरे वर्ग विशेष के हितों को प्राथमिकता नहीं देता है। अन्य वर्ग के हितों को कभी पूरा नहीं करता है। यह हमेशा पक्षपात पूर्ण हितों को पूर्ण करने का प्रयास करता है। इसके हित बदलते रहते हैं।

13.10. प्रतिनिधित्व समूह के सिद्धांत (Principle of Representation Groups)

आधुनिक युग में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बढ़ते हुए महत्त्व में राजनीतिक दलों के साथ-साथ समूहों के प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास तेजी से हो रहा है। प्राचीन युगीन राज्य और आधुनिक राज्यों में व्यापक अंतर आ जाने से प्रतिनिधित्व प्रणाली का महत्त्व और बढ़ जाता है इससे इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है। प्रत्येक राष्ट्र में अलग-अलग प्रतिनिधित्व के सिद्धांत विकसित हो रहे हैं। इससे राजनीतिक स्वतंत्रता का विस्तार भी हुआ है।

किसी भी राष्ट्र में चाहे कैसी भी शासन व्यवस्था स्थापित की गई हो फिर भी उसमें प्रतिनिधित्व के सिद्धांत अवश्य पाए जाते हैं। दरअसल यह प्रणाली 13वीं शताब्दी के बाद में विकसित की गई है। प्राचीन युग में सम्राट या शासक वसूली के लिए अपने प्रतिनिधि की नियुक्ति करता था। सबसे पहले ब्रिटेन के संसदीय प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास हुआ था। भारत में भी ब्रिटेन कालीन शासन व्यवस्था में प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास हुआ था। इसके बाद स्वतंत्र भारत में इसका संबंध प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचन से जोड़ दिया गया। आधुनिक युग में प्रतिनिधित्व वयस्क मताधिकार प्रणाली का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है।

प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं परिभाषा–प्रतिनिधित्व के अनेक अर्थ लिए जाते हैं फिर भी हम इसको राजनीतिक क्षेत्र के संदर्भ में भी समझने का प्रयास करेंगे तभी इसको सही अर्थों में समझा जा सकता है। इस संबंध में इसकी निम्न परिभाषा इस प्रकार दी जाती है।

नोट

1. ए. एच. बिच के अनुसार–"राजनीतिक प्रतिनिधित्व एक ऐसा व्यक्ति है जो परंपरागत या कानून द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था में प्रतिनिधि का स्तर रखता है और प्रतिनिधि की भूमिका निभाता है।"

2. लार्ड एक्टन के अनुसार–"प्रतिनिधित्व आधुनिक समय की महत्त्वपूर्ण खोज है।"

3. एक अन्य अर्थ एवं परिभाषा के रूप में वर्णित है–"प्रतिनिधित्व एक ऐसी प्रक्रिया

13.11. सारांश (Summary)

दबाव समूह से तात्पर्य प्रशासनिक ढाँचे से बाहर अपनी इच्छा से संगठित ऐसे गुटों से है जो प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति, चुनाव, विधि निर्माण और सरकारी नीति को प्रभावित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील ही रहते हैं। दबाव समूह अपने हितों की रक्षा के लिए संपर्क निरंतर बनाए रखता है। यह आवश्यकतानुसार भेंटवार्ता भी करता है। ये शासन की नीतियों के विरुद्ध हड़तालें करवाने में सबसे आगे रहते हैं। दबाव समूह जनता में प्रतिनिधित्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने का भी कार्य करता है। इससे जनता में सामाजीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है। आधुनिक युग में दबाव समूह का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसे लोकतंत्र का पोषक माना जाता है। इसके बिना लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता।

13.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. दबाव समूह क्या है? परिभाषा सहित स्पष्ट कीजिए।
2. दबाव समूह कितने प्रकार के होते हैं? बताइए।
3. दबाव समूह के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. दबाव समूह के गुण एवं दोषों का विशद वर्णन कीजिए।
5. दबाव समूह के सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-14

लोकमत
(Public Opinion)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

14.1. उद्देश्य (Objectives)
14.2. परिचय (Introduction)
14.3. लोकमत का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Public Opinion)
14.4. लोकमत की विशेषताएँ (Characteristics of Public Opinion)
14.5. लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति (Formation and Expression of Public Opinion)
14.6. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की बाधाएँ (Hindrances to Formation of Healthy Public Opinion)
14.7. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियाँ (Necessary Conditon for the Formation of Healthy Public Opinion)
14.8. लोकमत का मापन (Measurement of Public Opinion)
14.9. सारांश (Summary)
14.10. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

14.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- लोकमत के अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं को समझने में;
- लोकमत के निर्माण और निर्माण में आने वाली बाधाओं को जानने में;
- स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियों को जानने में;
- लोकमत के मापन को समझने में।

14.2. परिचय (Introduction)

वर्तमान युग लोकतंत्र का युग है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली जनमत पर आधारित होती है। लोकतांत्रिक शासन जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत जनता की इच्छा को शासन द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य प्रकार की शासन प्रणालियों के लिए लोकमत की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था के संचालन के लिए लोकमत की आवश्यकता किसी न किसी प्रकार से होती है। सैद्धांतिक रूप से राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली के अंतर्गत राजा की इच्छा और कुलीनतंत्रात्मक शासन प्रणाली में देश के कुलीन वर्ग की इच्छा सर्वोपरि होती है। किंतु राजा या कुलीन वर्ग द्वारा किए जाने वाले इस प्रकार के शासन को

नोट

स्थायित्व उसी समय प्राप्त हो सकता है, जबकि शासन वर्ग द्वारा लोकमत के आधार पर शासन किया जाए।

राजतंत्रात्मक या कुलीनतंत्रात्मक शासन के अंतर्गत शासक वर्ग यह जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा करता है कि जनता उसके शासन के बारे में क्या सोचती है? क्योंकि इसी जानकारी के आधार पर वह शासन की त्रुटियों को दूर करके विरोधी प्रवृत्तियों को उत्तेजित होने से पूर्व उनका प्रतिरोध कर सकता है। लेकिन ऐसी जानकारी के अभाव में शासन को भयंकर विरोध का सामना करने की प्रबल संभावना रहती है।

अधिनायकवादी शासन में भी लोकमत का महत्त्व होता है। इस व्यवस्था में अधिनायक स्वयं लोकमत को नष्ट करके अपनी राय के अनुकूल लोकमत के निर्माण का प्रयास करता है। महत्वाकांक्षी शासक सही या गलत तरीकों से लोकमत का समर्थन प्राप्त करके अधिनायक बनने में सफल होते हैं। केवल इतना ही नहीं, विदेशी शासन भी लोकमत की सहायता बिना अधिक दिनों तक नहीं चल सकता है। विभिन्न देशों में उपनिवेशवादी शासन इसका प्रमाण है। इस प्रकार (राजतंत्रात्मक, कुलीनतंत्रात्मक, लोकतंत्रात्मक, अधिनायकवादी तथा विदेशी शासन) सभी प्रकार की शासन प्रणालियों में लोकमत का महत्त्व होता है। ए. ओ. ह्यूम के शब्दों में, "लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।"

14.3. लोकमत का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Public Opinion)

शाब्दिक दृष्टि से लोकमत दो शब्दों से मिलकर बना है– लोक (Public) और मत (Opinion)। अतः लोकमत को समझने के लिए इन दोनों शब्दों के अर्थ को पृथक्-पृथक् रूप से समझना आवश्यक हो जाता है। लोक का अर्थ है जनता अथवा 'जनसमूह' (People)। किम्बाल यंग के शब्दों में, "सामान्य रुचि वाले व्यक्तियों के एक ढीले रूप से संगठित और संयुक्त स्वरूप को जनता कहते हैं।"

मत (Opinion) का शाब्दिक अर्थ है। राय। वस्तुतः मत शब्द विचार, अनुभव और विश्वास की ओर संकेत करता है। किम्बाल यंग के अनुसार, "यह शब्द मत, विचार अनुभव या विश्वास की ओर संकेत करता है जो पूर्ण निश्चयात्मकता का संक्षिप्त है।"

विभिन्न विद्वानों ने लोकमत को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने का प्रयास किया है।

कुछ प्रमुख विद्वानों की लोकमत से संबंधित परिभाषाएँ निम्नवत हैं–

1. जेम्स ब्राइस के अनुसार, "समाज के हित संबंधी विषयों पर लोगों के कुछ विचार होते हैं। आरम्भ में वे असंगठित और अस्पष्ट होते हैं। विषय का भली-भाँति ज्ञान न होने के जनता के विचारों में अस्थिरता भी रहती है। ज्यों-ज्यों विषय पर प्रकाश पड़ता है, विचारों में परिवर्तन होता रहता है। कुछ समय पश्चात् कुछ समस्याएँ सबको अपनी ओर खींच लेता है। उनके संबंध में पहले अस्थिर और अस्पष्ट विचार आगे चलकर निश्चित रूप धारण कर लेते हैं। जनता के विचारों को इस निश्चित रूप को यदि बहुमत द्वारा निर्धारित किया गया हो, लोकमत कहते हैं।"

2. एल. डब्ल्यू. डूब का कहना है, "लोकमत का अर्थ एक ही सामाजिक गुट के सदस्यों के रूप में जनता का किसी प्रश्न या समस्या के प्रति रुख या विचार है।"

3. रूसेक के अनुसार, "लोकमत किसी विशेष समय या स्थान में प्रचलित प्रभावपूर्ण विरोधी विचारधाराओं के समन्वय से बना हुआ सार्वजनिक मत होता है। संपूर्ण गुट से संबंधित विवादास्पद समस्याओं के बारे में गुट के सदस्यों द्वारा अपनी पसंद निश्चित करना और उसे प्रकट करना ही लोकमत है।"

4. जिन्सबर्ग के शब्दों में, "लोकमत का अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों के पुंज से होता है, जो न्यूनाधिक निश्चित रूप से प्रतिपादित होते हैं, जिनमें से कुछ में स्थायित्व और जिनको मानने वाले लोग उन्हें इस अर्थ में सामाजिक समझते हैं कि वे अनेक मस्तिष्कों द्वारा एक साथ विचार किए जाने का परिणाम है।"

5. लावेल के अनुसार, "लोकमत विवेक और निःस्वार्थ भावना के ऊपर आधारित विचार है। जिसका लक्ष्य जाति अथवा वर्ग विशेष का हित न होकर संपूर्ण समाज का हित होता है।"

6. कोरी तथा अब्राहम का कहना है, "लोकमत किसी भी रूप में अनिवार्यतः पूर्ण बहुमत की राय नहीं

है, क्योंकि किसी भी विषय पर अनेक और विभिन्न लोकमत हो सकते हैं और यह ज्ञात करना वास्तव में दुष्कर है कि एक सच्चे बहुमत की राय क्या है।"

7. सोल्टाऊ के अनुसार, "इस शब्द का प्रयोग साधारणतया उन विचारों और इच्छाओं के संबंध में किया जाता है जो जनता अपने सामान्य जीवन के संबंध में रखती है।"

8. कुप्पूस्वामी के अनुसार, "एक समय विशेष में, किसी विशिष्ट समस्या के संबंध में एक छोटे या बड़े समुदाय के लोगों द्वारा स्वीकृत मत को जनमत कहते हैं।"

14.4. लोकमत की विशेषताएँ (Characteristics of Public Opinion)

लोकमत की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं–

1. जनसाधारण का मत–किसी विशेष वर्ग या व्यक्तियों के मत को लोकमत की संज्ञा नहीं दी जा सकती, लोकमत के लिए यह आवश्यक है कि वह जनसाधारण का मत हो।

2. सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित–लोकमत सार्वजनिक हित व लोककल्याण की भावना से उत्प्रेरित होता है। डॉ. बेनीप्रसाद ने कहा है कि "वही मत वास्तविक लोकमत होता है, जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो।" इसी बात को लॉवेल ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि, "लोकमत के लिए केवल बहुमत ही पर्याप्त नहीं होता और न ही एकमत की आवश्यकता होती है। कोई भी मत लोकमत का रूप धारण करने के लिए ऐसा चाहिए, जिसमें चाहे अल्पमत भागीदार न हो, परंतु भय के कारण नहीं वरन् दृढ़ विश्वास के कारण उसे स्वीकार करता हो।"

3. जनता का स्थायी मत–लोकमत भावनाओं के अस्थिर आवेग या एक समय विशेष में प्रचलित पर आधारित न होकर जनता के विवेक और स्वतः विचारों पर आधारित होता है।

4. जनमत का आधार वैचारिक स्वतंत्रता–वैचारिक स्वतंत्रता जनमत का आधार है। स्वस्थ लोकमत का निर्माण तब तक संभव नहीं है जब तक कि जनता को विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता न हो।

5. विशिष्ट सांस्कृतिक आधारों एवं मूल्यों द्वारा जन्म–लोकमत का जन्म और विकास विशिष्ट सांस्कृतिक आधारों और मूल्यों द्वारा होता है।

6. जनता के हितों, उद्देश्यों और रुचियों का लोकमत पर प्रभाव–लोकमत पर जनता के हितों, उद्देश्यों और रुचियों का प्रभाव पड़ता है।

7. लोकमत के निर्माण में विविध तत्वों का योगदान–लोकमत के निर्माण की प्रक्रिया सरल नहीं है। इसके निर्माण में जनता की विविध प्रतिक्रियाओं, वाद-विवाद और समझौता आदि का सम्मिलित योगदान होता है।

लोकमत और बहुमत (Public Opinion and Majority)–लोकमत को स्पष्ट रूप से समझने के लिए लोकमत का बहुमत और सर्वसम्मति में अंतर समझना आवश्यक हो जाता है। एक देश के बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा व्यक्त मत को बहुमत कहा जाता है। किंतु कई बार बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा व्यक्त यह मत संपूर्ण जनता के हित में नहीं होता, क्योंकि इसमें अल्पसंख्यकों के कल्याण को ध्यान में नहीं रखा जाता। परंतु जहाँ तक लोकमत का संबंध है। अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक दोनों में से किसी के द्वारा भी व्यक्त मत को उस समय तक लोकमत नहीं कहा जा सकता जब तक वह सभी व्यक्तियों के हित से संबंधित न हो। लोकमत सदैव विवेक और मानव समुदाय के स्थायी विचारों पर आधारित है, जबकि बहुमत समान्यतया भावना प्रधान होता है।

लोकमत और सर्वसम्मति–लोकमत और बहुमत की भाँति लोकमत और सर्वसम्मति में भी अंतर होता है। सामान्यतया सर्वसम्मत उस मत को कहते हैं, जिसमें सभी एकमत हों। किंतु लोकमत के लिए किसी एक विषय पर इस प्रकार की सर्वसम्मति आवश्यक नहीं है। इसके साथ ही सभी व्यक्तियों द्वारा व्यक्त मत संपूर्ण जनता के कल्याण से संबंधित हो, यह आवश्यक नहीं है। स्थायित्व लोकमत का एक आवश्यक गुण है। लोकमत जनता का स्थायी मत होता है। लेकिन सर्वसम्मति में इस प्रकार से स्थायित्व एवं एकता का अभाव होता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. लोकमत की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

नोट

राजतंत्र में लोकमत का महत्त्व–सैद्धांतिक रूप से राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के अंतर्गत राजा की इच्छा सर्वोपरि होती है। इस आधार पर राजतंत्रीय शासन में शासन के निरंकुश होने और स्वार्थ साधना की दृष्टि से शासन के संचालन की अधिक संभावना रहती है। किंतु लोकमत इस प्रकार की संभावना को प्रतिबंधित करता है, क्योंकि राजा इस बात को भली भाँति जानता है कि लोकमत की अवहेलना करके उसका शासन स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकता।

विदेशी शासन में लोकमत का महत्त्व–विदेशी शासनों के लिए भी लोकमत महत्त्वपूर्ण होता है। साधारणतः विदेशी शासन का संचालन अपने देश के स्वार्थों की पूर्ति हेतु करते हैं। लेकिन लोकमत विदेशी शासन को ऐसा करने से रोकता है और उन्हें सजग करता है कि लोकमत की निरंतर अवहेलना से उनके शासन का अंत हो सकता है।

लोकतंत्र में लोकमत का महत्त्व–अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा लोकतंत्र में लोकमत का विशेष महत्त्व है। लोकमत लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का आधार है।

गैटिल के अनुसार, "लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर करता है कि लोकमत किस सीमा तक स्वस्थ, सुविकसित तथा शासन के कार्य व उसकी नीतियों को नियंत्रित करने में प्रभावी है।"

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में लोकमत का महत्त्व निम्न प्रकार है–

1. सरकार के निर्माण एवं पतन में लोकमत की भूमिका–लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार का निर्माण और पतन लोकमत पर ही निर्भर करता है। लोकतंत्र में सत्तारूढ़ दल के तभी पुनः सत्ता में आने की संभावना रहती है, जबकि उसके द्वारा निरंतर लोकमत का अनवरत पालन किया जाता है। परंतु यदि उसके द्वारा लोकमत का सम्मान नहीं किया जाता तो उसके स्थान पर विरोधी दल के सत्ता में आने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। ई. बी. शुल्ज के अनुसार, "लोकमत एक प्रबल सामाजिक शक्ति है, जिसकी अवहेलना करने वाला स्वयं अपने लिए संकट आमंत्रित करता है।"

2. शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण–लोकमत शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। लोकतंत्र में जनमत की शक्ति के आधार पर ही शासक वर्ग को मनमानी करने से रोका जा सकता है। इस प्रकार लोकतंत्र में लोकमत के आधार पर शासन को सही दिशा में कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

3. शासन का पथ-प्रदर्शन–लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकमत के विभिन्न अभिकरणों के माध्यम से शासन के अनुचित कार्यों की आलोचना होती रहती है, जिससे शासन का पथ प्रदर्शित होता है और शासन लोकमत के अनुकूल आचरण करने का प्रयत्न करने लगता है। जोस आर्टीगेग के शब्दों में, "लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को आधार बनाकर पृथ्वी पर कोई नहीं रह सका है।"

4. प्रशासकों की भ्रष्टता की प्रवृत्ति पर रोक–कई अवसरों पर प्रशासक वर्ग को भ्रष्टता और मनमानी प्रवृत्ति को अपनाते हुए देखा गया है। लोकतंत्र में लोकमत को जागृत करके ही इस प्रकार की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखा जा सकता है।

5. राजनीतिक जागरूकता में सहायक–लोकतांत्रिक शासन की सफलता राजनीतिक जागरूकता पर निर्भर करती है। लोकमत नागरिकों में राजनीतिक जागरूकता का विकास करता है। लोकमत से प्रेरित इस प्रकार की जागरूकता लोकतंत्र के ठोस आधार का निर्माण करती है।

6. नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा–लोकमत नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा में सहायक है, जब कभी सरकार द्वारा उसका प्रतिरोध किया जाता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि सतत् जागरूकता ही स्वतंत्रता का मूल्य है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि स्वस्थ लोकमत से लोकतंत्र का व्यावहारिक रूप विकृत हो जाता है। लोकमत के इसी महत्त्व के कारण लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकमत के निर्माण में सहायक संस्थाओं को विकसित करने का समुचित प्रयत्न किया जाता है। गैटिल के शब्दों में आधुनिक लोकतंत्रीय राज्यों में लोकमत के महत्त्व के कारण ही प्रचार के विभिन्न साधनों पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है, जिससे जनता के राजनीतिक विचारों का निर्माण एवं निर्देशन किया जा सके। डॉ. आशीर्वादम के शब्दों में, यद्यपि लोकमत की सही-सही खोज कठिन होती है फिर भी यही एक ऐसी मजबूत आधारशिला है जिस पर स्थायी लोकतंत्र का निर्माण किया जा सकता है।

नोट

14.5. लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति (Formation and Expression of Public Opinion)

लोकमत की निर्माण प्रक्रिया अत्यंत जटिल है और उसमें मनुष्य के व्यक्तिगत लक्षणों से लेकर बाहर की समूह व्यवस्था, राजनीतिक संरचनाओं व प्रक्रियाओं तक का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। इस प्रकार लोकमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं–

1. मानव-तत्व (Human Element)–लोकमत के विकास और निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका मानवीय-तत्वों की है। वस्तुतः लोकमत की अभिव्यक्ति और निर्माण के अन्य साधनों की प्रभावकारिता भी बहुत कुछ मानव के ऊपर ही निर्भर करती है। उदाहरण के लिए समाज में लोकमत के विकास में भूमिका नगण्य हो जाती है जहाँ व्यक्ति साक्षर होते हुए भी समाचार पत्र नहीं पढ़ते हैं। अतः मानवीय तत्व लोकमत के निर्माण एवं निरूपण में आधारभूत महत्त्व रखता है।

सामान्यतया उस दृष्टि से सभी व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

प्रथम श्रेणी में विधायक, समाचार पत्रों के संपादक और संवाददाता तथा विभिन्न राजनीतिक दलों के महत्त्वपूर्ण सदस्यों आदि को सम्मिलित किया जा सकता है, जिनके द्वारा मुख्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में ही कार्य किया जाता है।

द्वितीय श्रेणी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है जो अपना साधारण कार्य व्यापार करते हुए सार्वजनिक मामलों को समझने और संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के विचारों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

तृतीय श्रेणी के अंतर्गत वे सभी व्यक्ति आते हैं जो उपर्युक्त दोनों वर्गों के विचारों से प्रभावित होकर अपने विचारों का निर्माण करते हैं। इससे स्पष्ट है मानवीय तत्व लोकमत के निर्माण में सर्वाधिक क्रियाशील होता है।

2. परिवार व प्राथमिक समूह (Family and Primary Group)–व्यक्ति के संस्कारों के निर्माण में परिवार व प्राथमिक समूहों का बहुत अधिक महत्त्व होता है। परिवार में ही व्यक्ति के जीवन के दृष्टिकोण का निर्माण व विकास होता है। परिवार प्रत्यक्ष रूप से मूलभूत पाठशाला कहा जा सकता है।

परिवार व अन्य प्राथमिक समूहों में व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों से न केवल आत्मीयता होती है अपितु इनका व्यक्ति के आधारभूत विचारों के विकास में विशेष महत्त्व होता है। इस प्रकार परिवार व प्राथमिक समूहों में ही व्यक्ति समाज एवं सामाजिक रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों, सिद्धांतों तथा नीतियों के प्रचार द्वारा जनमत का निर्माण तथा उसमें परिवर्तन करते हैं।

14.6. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की बाधाएँ (Hindrances to Formation of Healthy Public Opinion)

स्वस्थ लोकमत के निर्माण में अनेक बाधाएँ होती हैं, जिनमें कुछ प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं–

1. निर्धनता और आर्थिक विषमता–स्वस्थ लोकमत के निर्माण में सबसे बडी बाधा निर्धनता और आर्थिक विषमता की है। निर्धनता के कारण व्यक्ति की सारी शक्ति और समय दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के साधन जुटाने में चला जाता है और सार्वजनिक हित की बातों के बारे में वह चिंतन नहीं कर पाता है। इसी प्रकार समाज में फैली हुई आर्थिक असमानता भी स्वस्थ लोकमत के निर्माण में एक मुख्य बाधा है।

जब धन संपन्न और निर्धन वर्ग एक दूसरे को अपना निश्चित शत्रु मान लेते हैं तो वे सार्वजनिक बात के संबंध में सार्वजनिक हित की दृष्टि से ही नहीं, वरन् अहित की दृष्टि से विचार करते हैं और लोकमत बहुत अधिक दूषित हो जाता है।

2. अशिक्षा–अशिक्षा के कारण स्वस्थ लोकमत का विकास नहीं हो पाता। अशिक्षित लोग समाचार पत्र व अन्य उपयोगी साहित्य नहीं पढ़ सकते। फलतः वे विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते और दूसरे

लोगों के विचारों को भी नहीं जान पाते हैं। इसके साथ ही वे लेखों के माध्यम से अपने विचारों को दूसरों तक भी नहीं पहुँचा पाते हैं। इसलिए अशिक्षा लोकमत के निर्माण की एक बड़ी बाधा है।

3. वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता–वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता की भावना जनता के लिए सदा अहितकारी होती है। जिस समाज में जातियों, संप्रदायों, भाषाओं, धर्मों पर आधारित भेदभाव पाया जाता है, उसमें लोगों में पारस्परिक द्वेष रहता है। क्योंकि सब लोग अपने-अपने वर्ग एवं संप्रदाय के हित चिंतन में संलग्न रहते हैं और सार्वजनिक हित का कोई ध्यान नहीं रखते। उनके अंदर स्वार्थ भावना, संकीर्णता एवं असहिष्णुता आदि बुराईयाँ घर कर लेती हैं, जो आदर्श जनमत के निर्माण की शत्रु हैं।

4. दोषपूर्ण राजनीतिक दल–यदि राजनीतिक दल आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित हों तो वे लोकमत के निर्माण में बहुत अधिक सहायक होते हैं। किंतु जब दलों द्वारा धर्म, जाति और भाषा पर आधारित विभिन्न वर्गों के बीच संघर्षों को जन्म देने का कार्य किया जाता है, तब ये स्वस्थ लोकमत के निर्माण को अवरुद्ध कर देते हैं।

5. सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीन और राजनीतिक चेतना का अभाव–स्वस्थ लोकमत का निर्माण उसी समय संभव है, जबकि जनता सार्वजनिक जीवन में रुचि नहीं लेती तो स्वस्थ लोकमत का निर्माण असंभव हो जाता है।

6. विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अभाव–विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अभाव भी लोकमत के निर्माण में सबसे बड़ी बाधा है। लोकमत का निर्माण विचार-विनिमय की ऐसी प्रक्रिया द्वारा होता है, जिसमें पक्ष तथा विपक्ष के पूर्ण प्रकाशन के बाद जनमत का निर्धारण होता है। अतः यदि किसी समाज में सभी को अपने-अपने तरीके से विचार करने तथा उस विचार को व्यक्त करने अथवा प्रकाशित करने की स्वतंत्रता नहीं होगी, तो विचारों का विनिमय नहीं होगा और लोकमत का विकास स्वस्थ दिशा में नहीं हो सकेगा।

14.7. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियाँ
(Necessary Condition for the Formation of Healthy Public Opinion)

स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए कुछ परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं–

1. सुशिक्षित एवं समझदार जनता–लोकमत जनसाधारण के उस विवेकपूर्ण और स्थायी विचार का नाम है जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो। किंतु इस प्रकार के विवेकपूर्ण विचार का निर्माण उसी समय संभव है, जबकि जनता सुशिक्षित और समझदार हो। सोल्टाऊ के शब्दों में, "लोकमत की प्रबुद्धता की मात्रा जनता की शिक्षा एवं बुद्धि के सामान्य स्तर पर निर्भर करती है।" सुशिक्षित होने पर ही जनता सार्वजनिक मामलों से संबंधित जानकारी प्राप्त कर सकती है तथा उन्हें समझ सकती है। अतः लोकमत के विकास और निर्माण के लिए जनता का सुशिक्षित तथा समझदार होना आवश्यक होता है।

2. आर्थिक विषमता का अभाव तथा निर्धनता का अंत–स्वस्थ लोकमत के विकास के लिए यह आवश्यक है कि समाज में गरीबी और अमीरी का अत्यधिक भेद न हो। अमीरी-गरीबी का भेदभाव समाज में वर्ग संघर्ष को जन्म देता है। दोनों वर्गों की आपसी खींचतान के कारण वे किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर एकमत नहीं हो पाते हैं और लोकमत के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आर्थिक विषमता के समान ही निर्धनता भी लोकमत की अभिव्यक्ति और निर्माण में बाधक है। निर्धन व्यक्ति रोजी-रोटी और अपने परिवार के भरण-पोषण की चिंता में इतने डूबे रहते हैं कि उनकी स्वतंत्र चेतना ही समाप्त हो जाती है। उनका अपना कोई मत नहीं रह जाता। थोड़े से प्रलोभन से वे दूसरे व्यक्ति के मत के समर्थक बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति सार्वजनिक प्रश्नों पर उदासीनता का दृष्टिकोण अपनाते हैं। निर्धनता से उत्पन्न उनकी यह उदासीनता लोकमत की अभिव्यक्ति में एक बड़ी बाधा होती है।

3. निष्पक्ष समाचारपत्र–स्वस्थ लोकमत के लिए समाचारपत्रों को निष्पक्ष, स्वतंत्र तथा निर्भीक होना चाहिए। वैंडल विल्की (Wendell Wilkie) के शब्दों में "समाचारपत्रों की स्वतंत्रता सच्चे लोकमत का जीवन है। यदि प्रेस स्वतंत्र न हो और किसी वर्ग, दल या संप्रदाय के नियंत्रण में हो तो वह मिथ्या एवं कुत्सित समाचारों और विचारों का प्रचार करेगा, जिससे लोकमत विषाक्त होगा।"

छात्र क्रियाकलाप

1. स्वस्थ लोकमत की निर्माण की क्या बाधाएँ हैं? लिखिए।

2. लोकमत के मापन से क्या अभिप्राय है? इसके मापन के प्रमुख तरीकों को निम्नांकित करें।

4. साम्प्रदायिकता और संकीर्णता का अभाव–साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति एवं जात-पात, धर्म, नस्ल आदि संकीर्ण प्रवृत्तियाँ लोकमत के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं। जिस देश के लोगों में ये पाई जाती हैं, वहाँ सार्वजनिक प्रश्नों में मतैक्यता का नितांत अभाव होता है। अतः स्वस्थ जनमत के लिए धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिकता जातीयता आदि संकीर्णताओं का अंत होना चाहिए।

नोट

5. राष्ट्रीय आदर्शों के संबंध में एकता–राष्ट्रीय आदर्शों के विषय में एकता स्वस्थ लोकमत के निर्माण एवं विकास की एक विशेष आवश्यकता है। दैनिक शासन की आवश्यकताओं के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है, लेकिन जनता में आधारभूत राष्ट्रीय आदर्शों के संबंध में आवश्यक रूप से एकता होनी चाहिए। वस्तुतः स्वस्थ लोकमत का निर्माण उस समय तक संभव नहीं है, जब तक शासन के स्वरूप एवं उद्देश्यों के संबंध में जनता में एकता की भावना न हो।

6. स्वस्थ एवं सुदृढ़ राजनीतिक दल–लोकमत के निर्माण के लिए राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक दल संकीर्णता दूर करके उनका ध्यान लोकमत की ओर आकृष्ट करते हैं। केवल इतना ही नहीं ये विचार विनिमय द्वारा लोकमत के निर्माण में सहयोग भी देते हैं। अतः राजनीतिक दलों को जाति, संप्रदाय, वर्ग हित आदि संकीर्णताओं के आधार पर संगठित न होकर विस्तृत आर्थिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय हित संबंधी सिद्धांतों के आधार पर संगठित होना चाहिए, तभी स्वस्थ जनमत के निर्माण में ये सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

7. विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–विचार अभिव्यक्ति अथवा विचारों का आदान-प्रदान लोकमत के निर्माण की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। अतः नागरिकों को स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। अल्पसंख्यक वर्गों और दलों को भी यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपना मत व्यक्त कर सकें और सभी वैध उपायों से अन्यों को अपने विचारों का समर्थक बना सकें। नागरिकों को अपने विचारों के प्रचार और प्रसार के लिए सम्मेलन, संगठन और दूसरी नागरिक स्वतंत्रताएँ भी प्राप्त होनी चाहिए। किंतु इसके साथ ही नागरिकों का यह पवित्र कर्तव्य भी हो जाता है कि वे किसी भी प्रकार से इसका दुरुपयोग न करे।

14.8. लोकमत का मापन (Measurement of Public Opinion)

लोकमत लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अविभाज्य अंग है। जनमत के संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि लोकमत किस प्रकार राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है अथवा जनता की इच्छा का पता अधिकारी वर्ग किस प्रकार लगाता है या लोकमत किस प्रकार नापा जाता है। किंतु लोकमत के मापन के संबंध में कोई परिमाणात्मक (Quantitative) प्रविधि लम्बी अवधि तक विकसित नहीं हो पायी थी। 1935 के आस-पास में 'गैलेप पोलस' का प्रचलन लोकमत को नापने की वैज्ञानिक पद्धति का विकास कहा जा सकता है। इसे परिमापन पर आधारित होने के कारण सुनिश्चित कहा जा सकता है। किंतु इस विधि से लोकमत के मापन के निम्नलिखित प्रमुख तरीके हैं:–

1. निर्वाचन–यह प्रश्न अत्यधिक विवादपूर्ण है कि क्या चुनाव लोकमत के मापन का सही तरीका है या नहीं? कुछ विद्वानों ने निर्वाचन को मात्र बहुमत का संकेत देने वाला साधन माना है, जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने चुनाव परिणाम को लोकमत के मापन की विधि माना है। चुनावों में राजनीतिक दलों द्वारा अलग-अलग विचार एवं कार्यक्रम जनता के निर्णयों के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं और जनता इस संबंध में मत-पत्र द्वारा निर्णय देती है। एक दल की विजय का अर्थ है कि लोकमत उसकी नीतियों से सहमत है और चाहता है कि उनका क्रियान्वयन किया जाए। इसी को निर्वाचन के माध्यम से लोकमत की अभिव्यक्ति या माप कहा जा सकता है।

2. दबाव समूहों द्वारा मापन–अधिकारी वर्ग को चुनावों के दौरान दबाव समूहों के माध्यम से भी लोकमत की जानकारी मिलती रहती है। दबाव समूह समाचारों द्वारा, तार द्वारा अथवा व्यक्तिगत परिचय द्वारा लोकमत को प्रकट करते हैं।

3. सीधे संपर्क द्वारा मापन–व्यवस्थापक एवं प्रशासक समय-समय पर नागरिकों से सीधे संपर्क करके लोकमत को जानने का प्रयास करते हैं। राष्ट्रीय नीतियों के बारे में प्रशासक जनता को अवगत कराते हैं तथा उनके संबंध में जनता की प्रतिक्रिया भी जानने का प्रयास करते हैं।

नोट

4. आरम्भिक (Initiative), लोकनिर्णय (Referendum) और प्रत्याह्वान (Recall)—आरम्भिक, लोकनिर्णय और प्रत्याह्वान द्वारा भी लोकमत को मापने का प्रयास किया जाता है। आरम्भिक उस जगह के लिए एक औपचारिक साधन माना जाता है जहाँ मतदाता स्वयं व्यवस्थापन करने में असमर्थ होते हैं। एक प्रस्तावित विधेयक अथवा संवैधानिक संशोधन मतदाताओं की एक निश्चित संख्या से हस्ताक्षर पाने के बाद जनता की स्वीकृति पाने के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है और उन मतदाताओं की स्वीकृति प्राप्त की जाती है जिन पर इनका प्रभाव पड़ने वाला होता है। लोकनिर्णय द्वारा एक विधेयक या संविधान के संशोधन को व्यवस्थापिका में मतदान के बाद निर्वाचकों की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जाता है। एक अधिकारी को प्रत्याह्वान द्वारा जनता उसको समय से पूर्व ही हटाने का अधिकार रखती है, क्योंकि उस अधिकारी के विचार जनता के हितों या विचारों के अनुकूल नहीं होते।

5. लोकमत के खेमों द्वारा मापन—लोकमत के मापने का एक वैज्ञानिक तरीका खेमों का प्रयास (Polling Devices) भी है। प्रारम्भ में इन खेमों में बड़ी संख्या में मतदाता रखे जाते थे। अतः मापने में अधिक निश्चितता रहती थी। लेकिन बाद में कई उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया कि निर्वाचकों की यह खेमेबाजी (Mass Polling) अवैज्ञानिक है। अतः इसके स्थान पर जनता को मापने के वैज्ञानिक परिणाम प्राप्त करने की बात की जाती है तथा संख्या की अपेक्षा गुण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। मतव्यवहार संबंधी सर्वेक्षण सही भविष्यवाणी करने में सफल रहते हैं। परंतु फिर भी इसमें कुछ विशेष सावधानियाँ रखनी पड़ती हैं, क्योंकि थोड़ी सी भूल से गलत परिणाम निकलने की प्रबल संभावना रहती है।

14.9. सारांश (Summary)

लोकमत दो शब्दों से मिलकर बना है "लोक" और "मत" अर्थात् जनसमूह की राय। लोकमत किसी विशेष समय या स्थान में प्रचलित प्रभावपूर्ण विरोधी विचारधाराओं के समन्वय से बना हुआ सार्वजनिक मत होता है। लोकमत विवेक और निःस्वार्थ भावना के ऊपर आधारित विचार है। जिसका लक्ष्य जाति अथवा वर्ग विशेष का हित न होकर संपूर्ण समाज का हित होता है।

लोकमत को स्पष्ट रूप से समझने के लिए लोकमत का बहुमत और सर्वसम्मति में अंतर समझना आवश्यक है। लोकमत लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अविभाज्य अंग है। लोकमत के निर्माण के लिए राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक दल संकीर्णता दूर करके उनका ध्यान लोकमत की ओर आकृष्ट करते हैं। स्वस्थ लोकतंत्र के लिए समाचारपत्रों को निष्पक्ष, स्वतंत्र तथा निर्भीक होना चाहिए।

14.10. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
2. लोकमत की विशेषताएँ बताते हुए लोकतंत्र में लोकमत के महत्त्व को बताइए।
3. सरकार के निर्माण एवं पतन में लोकमत की भूमिका बताइए।
4. लोकमत का निर्माण एवं निर्माण की बाधाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
5. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-15

प्रतिनिधिक लोकतंत्र : भारत में चुनाव तथा प्रतिनिधित्व
(Representative Democracy : Election and Representation in India)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

15.1. उद्देश्य (Objectives)
15.2. परिचय (Introduction)
15.3. मताधिकार के अधिकार (Franchise of Right)
15.4. निर्वाचन प्रणालियाँ (Method's of Election)
15.5. मतदान की प्रणालियाँ (Voting System)
15.6. निर्वाचन-क्षेत्र एवं पद्धतियाँ (System of Constituency)
15.7. व्यस्क मताधिकार (Adult Franchise)
15.8. अल्प-संख्यकों की प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ (Representation to the Minorities)
15.9. भारत में चुनाव प्रणाली और सुधार (In India Election Commission and Improvement)
15.10. भारतीय चुनाव सुधार (Indian Election Reform)
15.11. सारांश (Summary)
15.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

15.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मताधिकार के अधिकार और वयस्क मताधिकार को जानने में;
- निर्वाचन प्रणालियाँ और मतदान की प्रणालियों को समझने में;
- निर्वाचन-क्षेत्र एवं पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त करने में;
- अल्प-संख्यकों की प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ समझने में;
- भारत में चुनाव प्रणाली और सुधार को समझने में।

15.2. परिचय (Introduction)

प्रजातंत्र के प्रकार (Kinds of Democracy)–वर्तमान युग प्रजातंत्र का युग है। संसार के अधिकांश देशों में प्रजातांत्रिक पद्धति की सरकारें ही प्रचलित हैं। जनता की सरकार को ही प्रजातंत्र कहते हैं। इस पद्धति के अंतर्गत राज्य के कार्यों का संचालन और नीति निर्धारण का काम अनंत: जनता ही करती है। शासन सत्ता का मुख्य सूत्र उसमें ही निहित होता है। प्राचीन युनान के छोटे-छोटे नगर राज्यों के प्रजातंत्रों में यह संभव था कि राज्य के संपूर्ण

नागरिक प्रतिदिन एक जगह इकट्ठा होकर नीति का निर्धारण कर लें। लेकिन आधुनिक राज्यों का क्षेत्रफल और उनकी जनसंख्या काफी बड़ी होती है इसलिए प्राचीन यूनान की प्रथा आज किसी भी हालत में संभव नहीं है। जनता प्रतिनिधियों का निर्वाचन करके ही अपनी इस शक्ति का प्रयोग कर सकती है। दूसरे शब्दों में शासन कार्य में भाग लेने के लिए जनता को अप्रत्यक्ष रूप से अवसर दिया जाता है।

नोट

अप्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान करने के लिए प्रतिनिधि पद्धति अपनायी गयी है। इसके अंतर्गत निश्चित समय पर निश्चित अवधि के लिए जनता प्रतिनिधि निर्वाचित करती है, उसको मताधिकार कहते हैं। मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि संसद या विधानमंडल के सदस्य होते हैं और सरकार का निर्माण करते हैं तथा विरोधी दल वाले जिनका बहुमत संसद या विधान मंडल में नहीं रहता है वे सरकार की गलत नीतियों की आलोचना करते हैं। जिन लोगों को मतदान का अधिकार दिया जाता है उन्हें **निर्वाचक** और मतदान की प्रक्रिया को **निर्वाचन** कहते हैं। निर्वाचकों के संपूर्ण समुदाय को निर्वाचक मंडल कहते हैं।

15.3. मताधिकार के अधिकार (Franchise of Right)

निर्वाचन पर विचार करते समय सबसे पहली समस्या हमारे समक्ष यह आती है कि निर्वाचन संबंधी अधिकार अर्थात् मताधिकार का आधार क्या हो? इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के सदस्य होने के नाते यह नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य के प्रशासन में भाग ले सके और उसके लिए उन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में हाथ बँटा सके, जिन्हें राज्य का शासन चलाना है। दूसरी विचारधारा के अनुसार निर्वाचन में भाग लेने अथवा मत देने का अधिकार एक विशेष अधिकार है जो प्रकृति प्रदत्त सभी को प्राप्त नहीं होता, अपितु जो उपयोगिता की दृष्टि से केवल उन्हीं लोगों अथवा नागरिकों को दिया जाता है जो उसका उचित प्रयोग रखने की क्षमता रखते हों।

दूसरे शब्दों में, इस विचारधारा के अनुसार मतदाताओं का भी एक पद उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार अन्य कोई राजकीय पद होता है और वह केवल ऐसे व्यक्तियों को दिया जाता है जो उसके लिए योग्य हों तथा जो उसका कार्य उत्तरदायित्व तथा योग्यता से कर सके। इसलिए किसी भी राज्य की संपूर्ण आबादी को मतदान का अधिकार प्राप्त नहीं रहता है और न ही यह संभव है। राज्य के व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करने के निमित्त कुछ शर्तें निर्धारित की जाती हैं। जो निम्नलिखित हैं--

(क) उम्र--मतदाताओं को मताधिकार प्रदान करने के लिए उम्र सबसे बड़ी शर्त होती है। बच्चों को मताधिकार देने का न तो कोई न्यायोचित्य है और न ही कोई उपयोगिता है। बच्चे मतदान का न तो अर्थ समझते हैं और न ही वे मताधिकार का सही प्रयोग कर सकते हैं। अतएव, हर राज्य में मतदाता होने के लिए एक निश्चित उम्र रखी जाती है। भारत में 21 वर्ष के प्रत्येक व्यक्ति को मतदान करने का अधिकार प्राप्त है।

(ख) लिंग--कुछ देशों में मताधिकार के लिए लिंग की शर्त भी रखी जाती है। स्विट्जरलैंड तथा मिस्र में महिलाओं को मतदान का अधिकार नहीं दिया गया है। अमेरिका और ब्रिटेन ने भी प्रारंभ में महिलाओं को मताधिकार से वंचित रखा था। अमेरिका में 1920 में तथा इंग्लैंड में 1929 में स्त्रियों को मताधिकार दिया गया। आजकल अधिकांश सभ्य राज्यों में महिलाओं को भी मताधिकार दिया गया है। भारत ने तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू कर दिया।

(ग) शिक्षा--शिक्षा मताधिकार की एक जबरदस्त शर्त है। जे.एस. मिल ने स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिदान किया है कि शिक्षा के आधार पर ही मताधिकार मिलना चाहिए। इसलिए उन्होंने वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू करने के पूर्व वयस्क शिक्षा की सिफारिश की।

मिल के शब्दों में *"मैं इस बात का समर्थन नहीं कर सकता कि किसी भी व्यक्ति को लिखने पढ़ने का ज्ञान हुए बिना मताधिकार मिलना चाहिए।"*

आजकल अधिकांश राज्यों में शिक्षा को मताधिकार की अनिवार्य शर्त नहीं रखा गया है, फिर भी कुछ देशों में शिक्षा आधार से ही मताधिकार प्रदान किया जाता है। अमेरिका के कुछ राज्यों में निग्रो को मताधिकार से वंचित करने के लिए शैक्षणिक योग्यता की शर्त निर्धारित की गई है।

(घ) संपत्ति--संपत्ति के आधार पर भी मताधिकार प्रदान किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में संपत्ति तथा कर देने की क्षमता मताधिकार के मुख्य आधार थे। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन काल में संपत्ति मताधिकार की मुख्य

शर्त थी। 1882 ई. तक इंग्लैंड में संपत्तिधारियों तथा करदाताओं को ही मताधिकार दिया गया था। संपत्ति को मताधिकार का आधार मानने वालों का यह कहना है कि संपत्तिधारी व्यक्ति सामान्यतया शिक्षित एवं सुसंस्कृत होते हैं। अतः उन्हें मतदान करने का अधिकार मिलना चाहिए। परंतु आधुनिक विचारकों ने संपत्ति के आधार को मान्यता देने से अस्वीकार कर दिया है। संपत्ति के आधार पर मताधिकार प्रदान करने का सिद्धांत गैर लोकतंत्रात्मक है। इससे जनसंख्या का अधिकांश भाग मताधिकार से वंचित रह जाएगा। यद्यपि संपत्ति के आधार का अधिकांश विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों ने खंडन किया है, फिर भी कुछ देशों में इसे परोक्ष रूप से प्रथम स्थान दिया गया है। अमेरिका के कुछ राज्यों में खिलिया को मताधिकार नहीं दिया गया है।

नोट

(ङ) निवास स्थान—मताधिकार के लिए निवास स्थान को भी ध्यान में रखा जाता है। किसी भी व्यक्ति को एक चुनाव में एक ही बार तथा एक ही स्थान से मतदान करने का अधिकार दिया जाता है। अतः आम चुनाव के पूर्व प्रत्येक मतदाता को अपने निर्वाचन क्षेत्र की मतदाता सूची में नाम पंजीकृत करा लेना पड़ता है। उसे अपने निर्वाचन क्षेत्र से ही मतदान करने का अधिकार दिया जाता है। मतदाता सूची में नाम नहीं रहने पर किसी व्यक्ति को मतदान करने का अवसर नहीं दिया जाता है। लगभग सभी मुल्कों में निवास स्थान को ध्यान में रखा जाता है।

(च) नागरिकता—मताधिकार के लिए नागरिकता एक अनिवार्य शर्त है। मताधिकार विदेशियों या गैर नागरिकों को नहीं दिया जाता है। केवल नागरिक हो जाने से कोई मतदाता हो जाएगा, यह आवश्यक नहीं है। मतदाता होने के लिए नागरिकता के अतिरिक्त, उम्र, शिक्षा, निवास स्थान आदि बातों पर भी ध्यान दिया जाता है।

(छ) धर्म—किसी-किसी देश में धर्म के आधार पर भी मताधिकार प्रदान किया जाता है। यों तो आधुनिक राज्यों में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को प्राथमिकता दी जाती है, किंतु कुछ ऐसे राज्य हैं जहाँ आज भी धर्म राजनीति में मिला हुआ है। इंग्लैंड में रोमन कैथोलिक चर्च का पादरी कॉमंस सभा का सदस्य नहीं हो सकता है, उसी प्रकार पाकिस्तान का राष्ट्रपति वही हो सकता है जो इस्लाम धर्म को मानता है।

(ज) मानसिक स्थिति—मानसिक स्थिति मनोविज्ञान की वस्तु है, किंतु मताधिकार के संदर्भ में मानसिक स्थिति पर भी ध्यान दिया जाता है। मताधिकार वह अधिकार है जिसका प्रयोग एक स्वस्थ मस्तिष्क वाला व्यक्ति ही कर सकता है। पागल, जड़ तथा उन्मत्त व्यक्तियों को मताधिकार नहीं दिया जाता है क्योंकि ऐसे व्यक्ति मताधिकार के मूल तत्वों को भली-भाँति नहीं समझ सकते हैं।

उपर्युक्त शर्तों या आधारों के अतिरिक्त और भी कई शर्त या आधार हैं जिनको मताधिकार प्रदान करते समय ध्यान में रखा जाता है। अधिकांश विद्वानों ने वयस्क मताधिकार के सिद्धांत का समर्थन किया है और आज लोकतंत्रीय देशों में वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को ही अधिमान्यता दी जा रही है।

15.4. निर्वाचन प्रणालियाँ (Method's of Election)

साधारणतया निर्वाचन के दो रूप हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष निर्वाचन उसे कहते हैं जहाँ मतदाता अपने प्रतिनिधियों को स्वयं निर्वाचित करते हैं। वे प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं मत देते हैं। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष प्रणाली में मतदाता प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं भाग नहीं लेते बल्कि कुछ ऐसे लोगों को चुनते हैं जो उसके बदले में प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं अर्थात् प्रतिनिधियों का निर्वाचन मतदाता द्वारा निर्वाचित एक निर्वाचक मंडल (Electoral College) द्वारा होता है, स्वयं मतदाता द्वारा नहीं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन में एक बार मतदाता निर्वाचक मंडल का निर्वाचन करते हैं और दूसरी बार निर्वाचक मंडल का सदस्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं। उदाहरणस्वरूप भारत में लोकसभा तथा राज्य की विधानसभाओं के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष प्रणाली से होता है। जनता स्वयं चुनाव में भाग लेती है और प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। इसके विपरीत राज्य सभा और राज्य की विधानसभा के प्रतिनिधियों का चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली से होता है। जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति इसके चुनाव में भाग लेते हैं; स्वयं जनता नहीं।

प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के गुण

(1) प्रत्यक्ष चुनाव का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे लोग अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में सचेत हो जाते हैं।

(2) इसमें मतदाताओं में राजनीतिक जागरूकता की भावना का भी उदय होता है।

(3) वे अपनी नीति और योजना मतदाताओं के सामने रखते हैं।

(4) यह प्रणाली अधिक लोकतंत्रात्मक है क्योंकि मतदाताओं को सीधा अपना प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिल जाता है तथा

(5) इसमें प्रतिनिधि मतदाताओं से अपना संपर्क बनाए रख सकते हैं। जनता भी अपने प्रतिनिधियों के काम की निगरानी कर सकती है।

नोट

प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष

परंतु प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति की कुछ विद्वानों ने कड़ी आलोचना की है। इन आलोचकों का कहना है कि सब मतदाता अपने मताधिकार को उचित रीति से प्रयोग करने की आवश्यक योग्यता नहीं रखते। साधारण मतदाता पर मतदान करते समय अनेक प्रकार का दबाव डाला जा सकता है और डाला जाता है क्योंकि उसमें योग्य व्यक्ति को निर्वाचित करने की योग्यता नहीं होती। धर्म, जाति, संप्रदाय तथा आर्थिक हित की दुहाई देकर भोले-भाले मतदाताओं को बहकाया जाता है। परिणाम यह होता है कि अवांछनीय उम्मीदवार निर्वाचन में सफल हो जाते हैं।

परंतु **लॉर्ड ब्रोघम** (Lord Brougham) का कहना है कि, *"यदि साधारण जनता इस योग्य है कि वह उन लोगों का चुनाव कर सके जो वास्तविक प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे, तो उसे इस योग्य भी समझना चाहिए कि वह स्वयं वास्तविक प्रतिनिधियों का चुनाव कर सकें।"*

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के गुण

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के पक्षपोषकों का कथन है कि निर्वाचन को अप्रत्यक्ष बनाकर ही सार्वजनिक मताधिकार (Universal franchise) और भीड़ तंत्र (Mob fule) के दोषों से छुटकारा मिल सकता है। इस पद्धति में वास्तविक प्रतिनिधियों को निर्वाचन करने का अधिकार निर्वाचन मंडल (Electoral College) के थोड़े चुनिंदा आदमियों के हाथ में होता है, जो अपेक्षाकृत बुद्धिमान और जिम्मेदार होते हैं तथा जिनका राजनीतिक ज्ञान अच्छा होता है तो प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते समय वे अधिक उत्तरदायी ढंग से अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में निर्वाचन के प्रचार और राजनीतिक दलों की दौड़-धूप का भी महत्त्व कम हो जाता है और इस प्रकार दलबंदी के दोष कम हो जाते हैं।

गिलक्राइस्ट के शब्दों में *"अप्रत्यक्ष पद्धति के कारण निर्वाचन में विलंब होता है और अप्रत्यक्ष निर्वाचन एक छलनी की भाँति काम करता है जिससे होकर निर्वाचन का ज्वर निकलता रहता है।"* अंत में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति का प्रयोग उन देशों के लिए अत्यंत लाभकारी है, जहाँ की जनता पर्याप्त रूप से शिक्षित तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यवस्थित नहीं है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष

(1) अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष वही हैं जो प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के गुण हैं। यह पद्धति लोकतंत्रवाद के विरुद्ध है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति का राजनीतिक महत्त्व कम हो जाता है। उनको अपने प्रतिनिधि के निर्वाचन में प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

(2) इसका परिणाम यह होता है कि मतदाता देश की राजनीतिक समस्याओं में आवश्यक दिलचस्पी नहीं लेता और सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन हो जाता है। इसके द्वारा नागरिकों का राजनीतिक शिक्षण नहीं होता।

(3) इसके द्वारा मतदाता और प्रतिनिधि में संपर्क पैदा नहीं होता इसलिए प्रतिनिधि भी बहुधा उनके हितों के प्रति उदासीन हो जाता है।

(4) अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में दलबंदी के दोष भी कम नहीं होते। वस्तुतः इस पद्धति में राजनीतिक दलों की उथल-पुथल और अधिक बढ़ जाती है तथा जहाँ पर राजनीतिक दल सुव्यवस्थित अवस्था में है वहाँ पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति नाम-मात्र की रह जाती है और निर्वाचन वस्तुतः प्रत्यक्ष होता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का निर्वाचन संविधान के अनुसार अप्रत्यक्ष होता है, परंतु राजनीतिक दलों के कारण प्रत्येक मनुष्य जानता है कि यह निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है।

15.5. मतदान की प्रणालियाँ (Voting System)

नोट

अनेक मत प्रणाली (Weighted system)

वयस्क मताधिकार का आधुनिक लोकतंत्रीय स्वरूप यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, जो राज्य के निर्वाचन संबंधी कानूनों के अनुसार मतदाता है, एक ओर केवल एक मतदान करने का अधिकार होना चाहिए। अर्थात् एक वोटर और एक वोट (मत) के नियम (One man one vote system) का पालन होना चाहिए। इसको एक मत प्रणाली (Single vote system) कहते हैं। परंतु कुछ राज्यों में इस प्रणाली के विरुद्ध कुछ मतदाताओं को एक से अधिक मत देने का अधिकार होता है। इसको अनेक मत या बहुमत प्रणाली (Plural or weighted or differential vote system) कहते हैं। बहुमत प्रणाली का आधार **गिलक्राइस्ट** (Gilchrist) के शब्दों में *यह माना जाता है कि उन मनुष्यों को एक से अधिक मतदान करने का अधिकार होता है, जिनका राज्य में अधिक हित हो या जो अपेक्षाकृत मताधिकार का प्रयोग करने के अधिक योग्य हों।* बेल्जियम में 1893 के संशोधित संविधान के अनुसार प्रत्येक 25 वर्षीय पुरुष को एक मत देने का अधिकार था। परंतु प्रत्येक ऐसे पुरुष को जिसकी अवस्था 25 वर्ष हो, नियमित विवाह द्वारा जिसकी संतान मौजूद हो और राज्य को 5 फ्रेंक टैक्स प्रतिवर्ष देता हो, दो मत देने का अधिकार था तथा ऐसे 25 वर्षीय पुरुष को, जिसके पास किसी विश्वविद्यालय की सनद हो या वह किसी सार्वजनिक पद पर रह चुका हो, तीन मत देने का अधिकार था। परंतु तीन मत से अधिक मत देने का किसी को भी अधिकार नहीं था। बेल्जियम के अतिरिक्त अन्य देशों में भी अतिरिक्त या बहुमत प्रणाली को अपनाया गया। भारत में नये संविधान के अंतर्गत ग्रेजुएट और हायर सेकेंडरी (उच्चतर माध्यमिक) स्कूलों तथा उनसे ऊपर के शिक्षणालयों के अध्यापकों को दो मत प्राप्त हैं।

अनेक मत प्रणाली के गुण

बहुमत या अनेक मत प्रणाली के पक्ष में सर्वप्रथम युक्ति दी जाती है कि इसके द्वारा सार्वजनिक मताधिकार (Universal franchise) के दोषों को कम किया जा सकता है। सार्वजनिक मताधिकार के द्वारा अशिक्षित और अज्ञानी मनुष्यों को मताधिकार प्राप्त हो जाता है, जिनको पेशेवर पोलिटिशियन सरलता से पथभ्रष्ट कर देते हैं। अनेक मत प्रणाली के द्वारा मनुष्यों को एक से अधिक मतदान करने का अधिकार देकर इस दोष को दूर किया जा सकता है जो मताधिकार का प्रयोग करने की अपेक्षाकृत अधिक योग्यता रखते हैं या जिनको राज्य की व्यवस्था से अपेक्षाकृत अधिक हित संबद्ध है। दूसरे, **जॉन स्टुअर्ट मिल** के अनुसार *मनुष्य को मताधिकार से वंचित रखना अन्याय हो सकता है, परंतु साथ ही प्रत्येक मनुष्य के मत को समान महत्त्व देना भी अन्याय ही है।* एक सुशिक्षित और एक मूर्ख के मत को समान महत्त्व देना असंगत, अन्याययुक्त और अनुचित नहीं तो और क्या है? राज्य में अशिक्षित मनुष्यों के मत को संतुलित करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षित मनुष्यों को अतिरिक्त मतदान करने का अधिकार प्रदान किया जाए। **मिल** कहता है कि, *"मतों की गणना नहीं होनी चाहिए वरन् उनका वजन किया जाना चाहिए।"*

अनेक मत प्रणाली के दोष

आधुनिक काल में राजनीतिज्ञों की प्रवृत्ति एक मत प्रणाली की ओर है।

1. इसका प्रथम कारण यह है कि अनेक मत प्रणाली लोकतंत्रवाद के विरुद्ध है। इसके द्वारा अल्पसंख्यक लोगों को बहुसंख्यक जनता की इच्छा के विरुद्ध प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रथा के अनुसार उस राजनीतिक दल को राजशक्ति हस्तगत करने का अधिकार प्राप्त होता है जो संपत्तिशाली एवं शिक्षित मध्यवर्ग के अनुकूल हो।

2. यह निर्णय करना सरल नहीं है कि मताधिकार का उचित प्रयोग करने की किसमें अधिक योग्यता है। यह गारंटी के साथ नहीं कहा जा सकता कि एक मामूली ग्रेजुएट एक कारखाने में काम करने वाले चतुर कारीगर से अधिक योग्य है। संपत्ति को अतिरिक्त मताधिकार का आधार बनाना शासन-सूत्र को धनिक वर्ग के हाथ में सुपुर्द करना है।

3. अंत में अनेक मत प्रणाली समानता के सिद्धांत के प्रतिकूल है, जो लोकतंत्र का एक सुनिश्चित आधार है।

नोट

15.6. निर्वाचन-क्षेत्र एवं पद्धतियाँ (System of Constituency)

निर्वाचन-क्षेत्र–आम चुनाव के लिए देश को कई भागों में बाँट दिया जाता है जिसे निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) कहते हैं। निर्वाचन-क्षेत्र दो तरह का होता है। एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Single member constituency) और बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Multi member constituency)। जिस क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता हो उसे एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र और जिससे एक से अधिक सदस्य चुने जाते हों उसे बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता है। पहले में मतदाता को एक ही मत देने का अधिकार है, लेकिन दूसरे में प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार है, जितने सदस्य उस निर्वाचित-क्षेत्र से निर्वाचित होते हैं।

आधुनिक युग में निर्वाचन क्षेत्र की प्रथाओं को अधिकांशतः अपनाया जाता है। यह एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र प्रथा अधिक लोकप्रिय है। इन प्रथाओं को अपनाने के कई कारण हैं। ये अत्यधिक सरल है, प्रतिनिधियों और मतदाताओं के बीच निकट संबंध स्थापित हो जाता है। प्रतिनिधियों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा होती है। निर्वाचन में खर्च कम होता है। योग्य और देश-प्रेमी प्रतिनिधियों के चुने जाने की संभावना रहती है और छोटे-मोटे दलों को अधिक प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता है। जिससे स्थायी सरकार का निर्माण संभव होता है।

इन प्रथाओं में भी दोष पाए जाते हैं। एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा के अंतर्गत अल्पसंख्यक समुदायों को पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता, प्रतिनिधि स्थानीय हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं; राष्ट्रीय हित का नहीं और अधिकतर अल्पसंख्यक प्रतिनिधि यानी कम मत पाने वाला प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाता है जो जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करता है। बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा के अंतर्गत धारा सभा में अनेक दल हो जाते हैं जिनके कारण सरकार का निर्माण कठिन हो जाता है एवं प्रतिनिधियों तथा मतदाताओं के बीच में अपनापन का संबंध नहीं रह जाता है।

निर्वाचन-नियम–निर्वाचन के संबंध में सभी बातों का निर्णय संविधान के द्वारा और कानून के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ भारतीय संविधान में विविध संस्थाओं के चुनाव के बारे में बहुत कुछ लिख दिया गया है और इससे संबंधित एक अलग कानून भी है जिसे जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation set) कहते हैं। प्रायः सभी देशों में निर्वाचन के संचालन के लिए एक आयोग होता है जिसको निर्वाचन आयोग (Election commission) कहते हैं। इसका एक कार्यालय होता है जो चुनाव से संबंधित सभी बातों की देख-रेख करता है। आम चुनाव इसी की देख-रेख में होता है। आम चुनाव के लिए संविधान द्वारा ही अवधि निश्चित रहती है।

चुनाव-स्थान–जिस स्थान पर चुनाव होता है, उसे चुनाव-स्थान (Polling Station) कहते हैं। चुनाव के पहले ही स्थान निश्चित कर दिया जाता है और इसकी सूचना मतदाताओं को दे दी जाती है। यहाँ पर चुनाव की देख-रेख करने वाले बहुत से पदाधिकारी होते हैं। समस्त निर्वाचन क्षेत्र की देख-रेख करने वाले पदाधिकारी को चुनाव-अधिकारी (Returning officer) कहा जाता है। निर्वाचन-संबंधी आदेश उसी के नाम पर जारी होते हैं।

मत-पत्र–जिस कागज के जरिए मतदाता अपनी राय व्यक्त करता है, उसे मत-पत्र (Ballot paper) कहते हैं। मत-पत्र पर राय व्यक्त करने के दो तरीके हैं–पहला यह है कि मत-पत्र को छपवा लिया जाता है और उसी पर सभी उम्मीदवारों के नाम अंकित रहते हैं और मतदाता जिस व्यक्ति को अपना मत देना चाहता है, उसके नाम के सामने एक क्रोस (×) चिह्न लगा देता है। दूसरा तरीका यह है कि जितने उम्मीदवार रहते हैं, उनको अलग-अलग बक्सा दिया जाता है। बक्से या तो विविध रंग के होते हैं अथवा उन पर कुछ चिह्न लगे रहते हैं। मतदाता अपने उम्मीदवार के बक्से में अपना मत-पत्र डाल देता है। अशिक्षित मतदाताओं के लिए यह प्रथा बहुत ही सुविधाजनक है।

गुप्त मतदान–मतदान हमेशा गुप्त होता है अर्थात् मतदाता जब मत-पत्र पर अपनी पसंद व्यक्त करे या किसी उम्मीदवार के बक्से में अपना मत-पत्र डाले, उस समय कोई उसको देख नहीं सकता। इसलिए मतदान की पेटी एक सुरक्षित स्थान में रखी जाती है।

चुनाव-अपराध–निर्वाचन के सिलसिले में मतदाता को डराना-धमकाना या चुनाव स्थान पर उसे जबरदस्ती ले जाना, दूसरे आदमी के बदले में मत देना, ये सब चुनाव-अपराध माने जाते हैं। भारत में तो किसी सवारी पर मतदाता को बैठाकर ले जाना भी अपराध है। यदि इस प्रकार का कोई अपराध साबित हो गया तो चुनाव ही रद्द

हो जाता है। ऐसी बातों को रोकने के लिए हर चुनाव स्थान पर प्रत्येक उम्मीदवार अपना एक प्रतिनिधि (Election agent) रखता है।

उपचुनाव–जब किसी विधानसभा के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है या कोई सदस्य त्यागपत्र दे देता है या उसका चुनाव गैर-कानूनी घोषित कर दिया जाता है तब उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए एक दूसरा चुनाव होता है जिसको उपचुनाव (bye election) कहते हैं।

नोट

15.7. वयस्क मताधिकार (Adult Franchise)

आधुनिक युग में लगभग सभी देशों में प्रजातंत्र प्रणाली को अपनाया गया है। इस प्रणाली में जनता शासन के लिए प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित करती है। व्यक्तियों के मत देने के अधिकार को मताधिकार कहते हैं। गार्नर के शब्दों में–*"मताधिकार एक उत्तरदायित्व है जिससे राज्य केवल उन व्यक्तियों के हाथ में देना है जो सामान्य हित के लिए प्रयोग करने के योग्य समझे जाते हैं।"* जिन व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने का अधिकार होता है उन व्यक्तियों को निर्वाचक (Electors) कहते हैं। इन व्यक्तियों को सामूहिक रूप से निर्वाचक मंडल या नियोजन गण (Electorate) कहते हैं।

इस प्रकार प्रजातांत्रिक देशों में मताधिकार प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है। कारण राज्य की संप्रभुता जनता पर निर्भर करती है और उसका प्रयोग मताधिकार द्वारा किया जाता है।

परंतु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मताधिकार केवल एक अधिकार ही नहीं वरन् एक कर्तव्य भी है। मत के उचित प्रयोग पर ही जनता का कल्याण निर्भर है। हमें अपने मत का प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि अथवा किसी वर्ग-हित की भावना से नहीं करना चाहिए। मत देने का अधिकार एक पावन थाती है जिसे राष्ट्र मनुष्य को इसलिए प्रदान करता है कि वह इस अधिकार के उचित उपयोग द्वारा जनता की भलाई कर सके।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार जनता प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली की आधारशिला है। जनता ही शासन की संपूर्ण शक्तियों का आधार है। अतः प्रायः सभी प्रजातांत्रिक देशों में अब वयस्कता को मताधिकार का आधार माना गया है और संपत्ति-शिक्षा, नस्ल तथा लिंग आदि के भेद के बिना उन सब व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्रदान किया जाता है जो वयस्क होते हैं। वयस्क मताधिकार को ही लोग सर्वसाधारण मताधिकार भी कहते हैं क्योंकि इसके अनुसार जो अल्प-वयस्क, विशिप्त (पागल), दिवालिया, अपराधी और विदेशी लोग मताधिकार से वंचित रह जाते हैं उनका वंचित रहना ही उचित समझा जाता है। इसके समर्थकों का कहना है कि मताधिकार नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसमें मताधिकार का आधार वयस्कता है। प्रत्येक देश में वयस्कता की अलग-अलग सीमा है जैसे–इंग्लैंड, अमेरिका तथा भारत में 21 वर्ष, रूस में 18 वर्ष, नार्वे में 23 वर्ष तथा बेलजियम में 25 वर्ष के स्त्री-पुरुष को वयस्क माना जाता है।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं–

1. व्यक्तित्व का विकास–इस पद्धति के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर मिलता है। चूँकि शासन द्वारा व्यवस्थित परिस्थितियों से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। अतः इसके माध्यम से मतदान द्वारा शासन के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करके और शासन कार्य में भाग लेकर व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर सबको मिलता है।

2. राजनैतिक शिक्षा–इस पद्धति का दूसरा लाभ यह है कि इसके द्वारा जनता को राजनैतिक शिक्षा प्राप्त होती है। वे प्रशासन के कार्य में भाग लेना सीखते हैं। उनमें उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होती है और वे सार्वजनिक कार्य में अभिरुची लेने लगते हैं।

3. वर्गहित की पूर्ति–लोकतंत्र का शुद्ध रूप वही कहा जा सकता है, जिसमें सभी वर्गों के हितों की उचित पूर्ती होती रहे। सभी वर्गों के हितों की पूर्ति और उनके अधिकारों का संरक्षण इसके द्वारा होता है।

4. लोकतंत्र के अनुकूल–यह पद्धति लोकतंत्र के अनुकूल है। लोकतंत्र पद्धति में सार्वभौम सत्ता जनता के हाथ में निवास करती है। अतः जनता को बिना किसी भेद-भाव के अधिकार मिलना चाहिए। इस अर्थ में वयस्क मताधिकार लोकतंत्र के अनुकूल है।

5. सामाजिक और आर्थिक हितों की रक्षा–सामाजिक और आर्थिक हितों की रक्षा की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि जनता शासन कार्य में भाग ले। चूँकि शासन कार्य में भाग लेने का अवसर अधिक से अधिक

लोगों को तभी मिल सकता है जब मताधिकार का आधार वयस्कता हो। अतः इस दृष्टि से यह सिद्धांत वांछनीय है।

6. समता के सिद्धांत के अनुकूल–यह पद्धति समता के सिद्धांत के अनुकूल है। इस पद्धति के अनुसार सभी नागरिक समान हैं। अतः यह सिद्धांत सबको मताधिकार का एक अवसर देता है।

नोट

7. अधिकारों की रक्षा–नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनैतिक अधिकारों का उपयोग अत्यंत जरूरी है। इसलिए मत देने का अधिकार सभी नागरिकों को मिलना चाहिए जिससे वह सरकार के निर्णय को प्रभावित कर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें।

8. एकता–सभी वयस्कों को अधिकार मिलने से देश में एकता की भावना जाग्रत होती है। इससे उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर मिलता है।

9. स्वाभिमान–मताधिकार से मतदाताओं का स्वाभिमान बढ़ता है। जब देश के बड़े-बड़े नेता उनके पास मत माँगने आते हैं तो उनका स्वाभिमान जागता है और वे अपना महत्त्व समझने लगते हैं।

10. क्रांति की संभावना में कमी–इस पद्धति के कारण देश में क्रांति की संभावना नहीं रहती है। सबको मताधिकार का अवसर मिलने के कारण उनमें सरकार के प्रति असंतोष की भावना कम रहती है जिससे क्रांति या विद्रोह की संभावना में कमी आती है।

11. निष्पक्ष चुनाव–चुनाव में निर्वाचकों की संख्या अधिक होने के कारण चुनाव संबंधी भ्रष्टाचार की संभावना कम हो जाती है।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार के निम्नलिखित दोष हैं–

1. मूर्खों के हाथ में शक्ति–अधिकांश मतदाता अनपढ़ और मूर्ख होते हैं। वे चुनाव में मत देते समय उम्मीदवार की जाति, धर्म, गुट या पारिवारिक बंधनों से अधिक प्रभावित होते हैं। वे उम्मीदवार की योग्यता को ठीक रूप से परख नहीं कर सकते। इस प्रकार उनके मत के अनुचित उपयोग से राजनीति का क्षेत्र दूषित हो जाता है।

2. लोभवश मतदान–अधिकतर मतदाता गरीब होते हैं। इसलिए उनके मत धन से खरीदे जा सकते हैं। अतः वयस्क मताधिकार द्वारा ऐसे लोगों को मताधिकार देना व्यर्थ है जो अपने मतों को बेचकर उसका दुरुपयोग करते हैं।

3. शासन की जटिलता–शासन की समस्याएँ आजकल इतनी जटिल होती जा रही हैं कि सर्वसाधारण के लिए उनका समझना मुश्किल है। अतः वयस्क मताधिकार का परिणाम यह होता है कि निर्वाचन राजनैतिक समस्याओं के ज्ञान के आधार पर न होकर सामयिक नारों के आवेश के अधार पर होता है।

4. रूढ़ीवादी प्रवृत्ति का पोषक–सर्वसाधारण जनता रूढ़िवादी होती है और उस प्रगति के प्रति उदासीन होती है जिस पर बढ़ना आधुनिक राज्य के लिए आवश्यक है। अतः वयस्क मताधिकार पद्धति रूढ़िवादी प्रवृत्ति को सहारा देती है। इसलिए यह अनुपयोगी है।

5. महिला मताधिकार का विरोध–कुछ विद्वान महिलाओं के मताधिकार के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार महिलाओं का कार्य क्षेत्र घर और परिवार तक सीमित है। अतः महिलाएँ अपने राजनैतिक उत्तरदायित्व को कभी भी निभा नहीं सकती हैं।

6. मतदान एक पावन कर्तव्य–मताधिकार केवल अधिकार ही नहीं, वरन् एक कर्तव्य भी है। इसका प्रयोग बड़ी सावधानी, बुद्धिमता तथा विचारपूर्वक किया जाना चाहिए जो सार्वजनिक हित का निर्णय कर सके।

15.8. अल्प-संख्यकों की प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ (Representation to the Minorities)

प्रजातंत्र शासन तभी सफल हो सकता है जबकि देश की विधि निर्मात्री सभा में सभी का उचित प्रतिनिधित्व हो। यह प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यक जातियों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिए आवश्यक है। अल्पसंख्यक जातियों एवं हितों को वर्तमान राज्यों में प्रतिनिधित्व देने के अनेक उपाय काम में लाए जाते हैं। इन उपायों में निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं–

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional representation)

छात्र क्रियाकलाप

1. प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति किसे कहते हैं?

2. बहुमत या अनेक मत प्रणाली के गुण और दोष क्या हैं?

नोट

(2) सीमित मतदान प्रथा (Limited vote system)

(3) एकत्रित मतदान प्रथा (Comulative vote system)

(4) पृथक् निर्वाचन प्रथा (Separate election system)

(5) सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रथा (Joint electorate with reservation of seats)

(6) पेशागत प्रतिनिधित्व प्रथा (Functional or occupational representation)

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली–जिस प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक वर्ग में व्यवस्थापिका में अपनी जनसंख्या के अनुपात में अपने प्रतिनिधियों को भेजने की व्यवस्था होती है उस प्रणाली को आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली को सर्वप्रथम टॉमस हेयर ने 1851 में निकाला। इसलिए इसे हेयर प्रणाली भी कहते हैं। इस प्रणाली की दो योजनाएँ हैं–

(क) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली–इस प्रणाली में प्रत्येक मतदान मत-पत्र पर अपनी पहली, दूसरी, तीसरी आदि पसंदगी लिखता है। मत-पत्र पर सभी उम्मीदवारों के नाम लिखे रहते हैं। प्रत्येक मतदाता एक मत दे सकता है।

चुनाव में विजयी होने के लिए उम्मीदवारों को निश्चित मत प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रणाली में लाभ यह है कि कम मत पाने वाले उम्मीदवार के मतों को दूसरे उम्मीदवार को दे दिया जाता है। इस प्रकार मत बेकार नहीं होते हैं। चुनाव में विजयी होने के लिए निश्चित मत संख्या निकालने की विधि इस प्रकार है।

$$\text{निश्चित मत संख्या} = \frac{\text{मतों की कुल संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधि} + 1} + 1$$

मान लिया जाए कि किसी क्षेत्र से 4 सदस्यों को चुना जाएगा और कुल मतदान 500 हुआ तो निश्चित मत संख्या

$$= \frac{500}{4 + 1} + 1 = 101$$

उपर्युक्त विधि के अनुसार भारत के राष्ट्रपति और राज्य सभा का चुनाव होता है।

(ख) सूचि प्रणाली–इस पद्धति के अंतर्गत मतदान व्यक्तिगत आधार पर न किया जाकर पार्टी के आधार पर किया जाता है। मतदाता पूरी सूचि को मत देता है, किसी एक उम्मीदवार को नहीं। उम्मीदवार की जीत के लिए निश्चित मत संख्या एकल संक्रमणीय मतप्रणाली के अनुसार निकाली जाती है। प्रत्येक सूचि के लिए मतों की अलग-अलग गिनती की जाती है। यह एक सरल प्रणाली है क्योंकि मतदाताओं को मतदान करने में विशेष कठिनाई नहीं होती है।

(2) सीमित मतदान प्रथा–इस प्रथा के अनुसार पूरे देशों को बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। इस प्रथा में मतदाता को क्षेत्र से निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या से कुछ कम मत देना होता है। जैसे–किसी क्षेत्र में चार सदस्यों के स्थान हैं तो मतदाता तीन मत दे सकता है। जिससे कम से कम एक सदस्य अल्पसंख्यक जाति से भी चुना जा सके।

(3) एकत्रित मतदान प्रथा–इस प्रथा के अंतर्गत भी बहु-निर्वाचन क्षेत्र होता है। प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार होता है जितने किसी क्षेत्र से उम्मीदवार चुने जाने वाले होते हैं। इस प्रथा में मतदाता को यह अधिकार होता है कि यदि वह चाहे तो अपने सारे मत एक ही उम्मीदवार को दे दे या कई सदस्यों में बाँट दे। इसमें अल्पसंख्यकों का एक सदस्य तो चुन ही लिया जाता है।

(4) पृथक् निर्वाचन प्रथा–इस प्रथा को सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रथा के नाम से भी पुकारा जाता है। अंग्रेजों के जमाने में भारत में यह प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की व्यवस्था धर्म के आधार पर निश्चित कर दी जाती थी। धर्म के आधार पर अलग किए हुए मतदाता अपने-अपने धर्म के प्रतिनिधियों को ही मत दे सकते हैं। अर्थात् हिंदू मतदाता केवल हिंदू उम्मीदवारों को, मुसलमान मतदाता केवल मुसलमान उम्मीदवारों को अथवा किसी धर्म के अनुयायी उसी के अनुयायी उम्मीदवार को मत दे सकते हैं।

राजनैतिक उपयोगिता की दृष्टि से इस प्रणाली का कोई मूल्य नहीं हो सकता। यह प्रथा भारत में उसी समय तक प्रचलित रही जब तक इस देश में अंग्रेजों का शासन रहा और अब पाकिस्तान में भी इस प्रथा का खुला विरोध होने लगा है।

(5) सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रथा—इस प्रथा के अंतर्गत अल्पसंख्यक जातियों के स्थान संविधान द्वारा निश्चित कर दिए जाते हैं। परंतु विभिन्न जातियों के सदस्यों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र नियत नहीं किए जाते हैं। इस प्रकार यदि प्रथा अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करने के अतिरिक्त पृथक् निर्वाचन प्रणाली के सब दोषों को दूर कर देती है। इस प्रथा में हिंदू मुसलमान को भी और मुसलमान हिंदुओं को भी अपने मत देते हैं। केवल वे ही सदस्य निर्वाचित होते हैं जिन्हें सब जातियों का विश्वास प्राप्त हो। इस प्रकार इस प्रथा से राष्ट्रीय एकता और सामाजिक दृढ़ता की नींव पड़ती है।

(6) पेशागत प्रतिनिधित्व प्रथा—डुग्वी, ग्राह्मवाला आदि विद्वानों ने पेशागत प्रतिनिधित्व प्रथा का समर्थन किया है। इन विद्वानों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी रोटी के लिए कोई न कोई कार्य करता है। कुछ लोग अध्यापन कार्य, कुछ लोग वकालत तथ दूसरे लोग विभिन्न कार्यों को करते हैं। अतः शासन में प्रत्येक व्यवसाय का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जब एक सदस्य को विशेष व्यवसाय का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो तथा इसी तरह सभी व्यवसायों के अलग-अलग प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो तो इसे हम व्यवसायिक प्रतिनिधित्व कहेंगे।

इस प्रकार इस प्रथा के अनुसार प्रतिनिधित्व का आधार क्षेत्र न होकर व्यवसाय होता है।

आनुपातिक एकल संक्रमणीय प्रणाली

प्रतिनिधित्व को व्यापकतम बनाने के लिए जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है, उनमें से सबसे मुख्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली है। सर्वप्रथम इस प्रणाली का अविष्कार 19वीं शताब्दी के एक अंग्रेज विचारक टॉमस हेयर ने किया था। इसलिए इस प्रणाली को हेयर प्रणाली भी कहा जाता है।

संक्षेप में, इस प्रणाली के अनुसार बड़े-बड़े आकारों के निर्वाचन क्षेत्रों से तीन, चार, पाँच या इससे अधिक उम्मीदवारों का चुनाव होता है। प्रत्येक मतदाता को उम्मीदवारों की संख्या के बराबर मत देने का अधिकार होता है। केवल वे उम्मीदवार निर्वाचित समझे जाते हैं, जिन्हें न केवल पूर्ण बहुमत का ही समर्थन प्राप्त होता है वरन् जिन्हें मतदाताओं की उस निश्चित संख्या का भी समर्थन प्राप्त होता है जो चुनाव में डाले गए मतों की कुल संख्या को कुल उम्मीदवारों की संख्या से भाग देकर निकाली जाती है।

प्रतिनिधित्व के उपयुक्त सिद्धांत को व्यवहारिक रूप देने के लिए विद्वानों ने दो पद्धतियों का प्रतिपादन किया है।

(क) एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single transferable vote system)

(ख) सूचि प्रणाली (List system)

(क) एकल संक्रमणीय मत पद्धति—इस पद्धति के अनुसार सारे देश को बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से एक से अधिक सदस्यों का निर्वाचन होता है। प्रत्येक मतदाता को एक ही मत देने का अधिकार होता है, लेकिन वह मत-पत्र में उम्मीदवारों के नाम के आगे 1, 2, 3, 4 आदि चिह्नों को लगाकर अपनी पसंद जाहिर कर सकता है। 1, 2, 3, 4 आदि चिह्नों से यह जाहिर होता है कि मतदाताओं की पहली, दूसरी, तीसरी या चौथी पसंद कौन-सी है।

पसंदगियों के उल्लेख की व्यवस्था इसलिए की जाती है कि यदि कोई उम्मीदवार अपनी लोकप्रियता के कारण इतना मत प्राप्त कर ले कि उनकी संख्या निश्चित संख्या से अधिक हो जाए तो निश्चित संख्या से अधिक मत बेकार न जाएँ और इन्हें अन्य उम्मीदवारों को हस्तांतरित किया जा सके। इसी तरह हारने वाले उम्मीदवारों के मतों को भी निर्वाचित होने वाले उम्मीदवारों के बीच हस्तांतरित किया जा सकता है।

मतों की कुल संख्या निश्चित करने की एक विशेष पद्धति अपनायी जाती है।

$$\frac{\text{मतों की कुल संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या + 1}} + 1$$

नोट

जैसे यदि सात सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र में सात हजार मतदाताओं ने मतदान किया हो तो उस हालत में निश्चित संख्या

$$= \frac{7000}{7+1} + 1 = 876 \text{ होगी।}$$

नोट

इस पद्धति को डूप द्वारा प्रतिपादित पद्धति कहते हैं। इस प्रकार के उम्मीदवार जो पहली पसंद के अथवा मतों के हस्तांतरण का लाभ उठाकर उक्त मत संख्या प्राप्त कर लेते हैं। एकल संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार निर्वाचित समझे जायेंगे।

(ख) सूचि प्रणाली–इस प्रणाली के अंतर्गत भी निर्वाचन क्षेत्र बहुसंख्यक होता है लेकिन निर्वाचन का आधार व्यक्तिगत उम्मीदवार न होकर दलीय आधार होता है। यह प्रणाली में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक दूसरा रूप है। इस प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक दल अपने-अपने उम्मीदवारों की अलग-अलग सूचि तैयार करते हैं और मतदाता दल के उम्मीदवारों की सूचि के आधार पर मतदान करते हैं। प्रत्येक मतदाता को यह अधिकार होता है कि वह चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या के बराबर मत दे सके। पर उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह एक उम्मीदवार को एक ही मत दे। मत देते समय मतदाता एक दल के साथ ही उम्मीदवारों को मत देते हैं। वह ऐसा नहीं कर सकता है कि अपना आधा मत एक के पक्ष में और शेष मत दूसरे दल के पक्ष में दे। उम्मीदवार की जीत के लिए निश्चित मत संख्या एक संक्रमणीय मत-प्रणाली के अनुसार निकाली जाती है। प्रत्येक सूचि के लिए मतों की अलग-अलग गिनती कर ली जाती है। एक दल के मतों को निश्चित संख्या से भाग देकर दल के निर्वाचित सदस्य मालूम किए जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक दल की सूचि को 1000 मत मिलते हैं तथा निश्चित मत संख्या 500 है।

तो उस दल के निर्वाचित सदस्य $= \frac{1000}{500} = 2$ होंगे।

दलों की सूचि में उम्मीदवारों को निर्वाचित घोषित किया जाता है। जिनके नाम दलों की सूचि में सबसे ऊपर होता है।

गुण

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण है–

1. समुचित प्रतिनिधित्व–इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके अंतर्गत अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व आसानी से प्राप्त हो जाता है।

2. दलों का समुचित प्रतिनिधित्व–इस प्रणाली के माध्यम से अल्पसंख्यक समुदायों को अतिरिक्त विभिन्न राजनीतिक दलों का भी समुचित प्रतिनिधित्व हो जाता है। विभिन्न राजनीतिक दल अपनी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व करने लगते हैं।

3. लोकमत का सच्चा प्रतिनिधित्व–इस प्रणाली के आधार पर जो व्यवस्थापक मंडल बनते हैं वे ही वस्तुतः लोकमत के यथार्थ प्रतिबिंब होते हैं।

4. मतदाताओं को पूरी स्वतंत्रता–इस प्रणाली के अंतर्गत मतदाता पूर्णरूपेण स्वतंत्र होते हैं। उन्हें उम्मीदवारों के चयन में पूरी आजादी रहती है। क्योंकि वे विभिन्न दलों में से अपने उम्मीदवारों का चयन कर सकते हैं।

5. राजनैतिक शिक्षण–इस प्रणाली से मतदाताओं का राजनैतिक शिक्षण भी होता है क्योंकि उन्हें अनेक उम्मीदवारों में विभिन्न राजनैतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों पर विचार करने का अवसर प्राप्त होता है।

6. कोई भी मत व्यर्थ नहीं–सबसे बड़ी अच्छाई इस प्रणाली की यह है कि इससे किसी मतदाता का मत व्यर्थ नहीं जाता और उससे किसी न किसी उम्मीदवार के निर्वाचन में सहायता अवश्य मिल जाती है।

7. योग्य व्यक्तियों का चुनाव–इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति पहले चुने जाते हैं क्योंकि मतदाता उतनी पसंदगी जाहिर करते हैं, जितनी की सीटें रहती हैं। इससे विधान मंडल का धरातल ऊँचा उठ जाता है।

8. बहुमत का अत्याचार नहीं–इस प्रणाली के द्वारा बहुमत स्वेच्छाचारी नहीं हो पाता क्योंकि इसके द्वारा किसी एक दल का आधिपत्य नहीं रह पाता।

9. उम्मीदवारों और मतदाताओं के बीच घनिष्ठ संबंध–इस पद्धति के माध्यम से उम्मीदवारों और मतदाताओं के बीच घनिष्ट संबंध स्थापित हो जाता है। प्रत्येक मतदाता उम्मीदवारों के अपमान अनुभव करता है और प्रत्येक प्रतिनिधि मतदाता से घनिष्ठता महसूस करता है। इसलिए **मिल** ने कहा है कि– *"It is an essential part of democracy that minorities should be adequately represented."*

नोट

दोष

इस प्रणाली के निम्नलिखित दोष भी हैं–

1. जटिल प्रणाली–यह प्रणाली बहुत ही जटिल है। साधारण जनता इसे आसानीपूर्वक नहीं समझ सकती है। इसके अनुसार कार्य करना जनता के लिए ही नहीं बल्कि चुनाव अधिकारियों के लिए भी कठिन होता है

2. अस्थाई स्वभाव–इस प्रणाली के अनुसार निर्वाचन के परिणामस्वरूप प्रायः जो शासन स्थापित होता है वह अस्थाई स्वभाव का होता है। अनुभव इस बात का साक्षी है कि विभिन्न दलों और गुटों की मिश्रित सरकार स्थाई नहीं हो सकती है।

3. अनेक दलों का निर्माण–इस प्रणाली के परिणामस्वरूप अनेक छोटे-छोटे दल तथा समुदाय उभर आते हैं और विधान मंडल में सभी को कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व मिल ही जाता है। जो एक अच्छी चीज नहीं है।

4. बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्र–इस प्रणाली के लिए बहुसदयीय निर्वाचन क्षेत्रों की आवश्यकता होती है। अतः जन साधारण को योग्यता की दृष्टि से इसे उपर्युक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्हें अनेक उम्मीदवारों में से छाँट करके मतदान करने में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं।

5. दल के लिए मतदान–इसकी सूचि प्रणाली में व्यवहार में मतदान उम्मीदवारों के लिए नहीं बल्कि दलों के लिए होता हैं। इसलिए इस प्रणाली को उचित नहीं कहा जा सकता है।

6. व्यक्तिगत संपर्क का अभाव–इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र बड़ा होने के कारण मतदाताओं और उम्मीदवारों के बीच व्यक्तिगत संपर्क का अभाव हो जाता है।

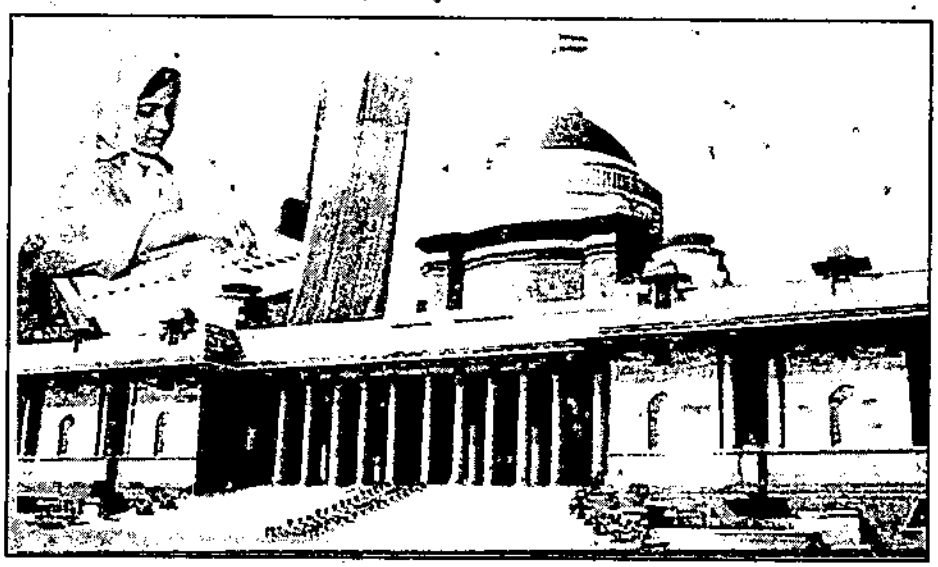

चित्र 3.1. मताधिकार का प्रयोग करती महिला

7. उपचुनाव–यह प्रणाली उपचुनाव के लिए उपयुक्त है क्योंकि उपयुक्त चुनाव में प्रायः एक ही उम्मीदवार का चुनाव होता है। अतः लोकतंत्रात्मक दृष्टि से यह प्रणाली खतरनाक है।

15.9. भारत में चुनाव प्रणाली और सुधार (In India Election Commission and Improvement)

नोट

प्रजातंत्र की सफलता स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों पर ही निर्भर करती है। निर्वाचन तंत्र के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए संविधान सभा में पं. हृदयनाथ कुँजरु ने कहा था कि *"अगर निर्वाचन तंत्र दोषपूर्ण है या कुशल नहीं है या गैर ईमानदार लोगों द्वारा संचारित होता है तो प्रजातंत्र का क्षेत्र ही दोषपूर्ण हो जाएगा। जनता निर्वाचनों से यह सीखने के बदले कि कितने मतों का प्रयोग किस प्रकार करें और उनका न्यायपूर्ण मतदान किस प्रकार संविधान में परिवर्तन और प्रशासन में सुधार ला सकता है और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किन गलत तरीकों को अपनाया जा सकता है। यह सब बेकार हो जाएगा।"*

स्वतंत्र निर्वाचन तंत्र के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक् अध्याय (अनुच्छेद 324 से 329) में चुनावों से संबंधित संपूर्ण व्यवस्था की गई है।

निर्वाचन आयोग–संविधान के अनुच्छेद 324 में चुनाव की व्यवस्था के लिए चुनाव आयोग का उल्लेख किया गया है। चुनाव आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त (Chief election commissoner) तथा दो अन्य चुनाव आयुक्त होंगे जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करें। राष्ट्रपति मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति करते समय संसद द्वारा पारित कानूनों का ध्यान रखेगा। राष्ट्रपति चुनाव आयुक्त के परामर्श पर आवश्यक क्षेत्रीय आयुक्तों की नियुक्ति करेगा। ये क्षेत्रीय आयुक्त चुनाव आयुक्त की सहायता करेंगे।

कार्यकाल–संविधान के अंतर्गत चुनाव आयोग की स्वतंत्रता की पूरी व्यवस्था की गई है। चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल तथा सेवा-शर्तें राष्ट्रपति नियमानुसार निश्चित करेगा। मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति के बाद उसके सेवा काल की शर्तों में उसके हितों के विरुद्ध कोई परिवर्तन नहीं किया जायेगा। मुख्य चुनाव आयोग को केवल उसी प्रकार पदच्युत किया जा सकता है जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पदच्युत करने की व्यवस्था है। चुनाव आयोग का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा।

चुनाव आयोग का कार्य–चुनावों से संबंधित समस्त व्यवस्था करना चुनाव आयोग का कार्य है। इस संबंध में प्रमुख रूप से उसके निम्नांकित कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है–

1. **चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन**–चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950' के अंतर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेश के आधार पर किया गया था। लेकिन यह व्यवस्था संतोषजनक नहीं पायी गई। अतः संसद ने "परिसीमन आयोग अधिनियम 1952" पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरांत निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है।

2. **मतदाता सूचियाँ तैयार करना**–चुनाव आयोग के द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियाँ तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के संपन्न होने पर ही चुनाव होते हैं। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

3. **विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना**–चुनाव आयोग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। इस संबंध में आयोग के द्वारा कोई आधार निश्चित किया जा सकता है। चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्रदान किए जाने के आधार में समय-समय पर परिवर्तन किए जा सकते हैं और किए जाते रहे हैं। वर्तमान नियम के अनुसार राष्ट्रीय दलों के रूप में किसी दल को मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि अन्य चुनाव में उसे कम-से-कम चार राज्यों में 4 प्रतिशत मत मिले हों।

4. **राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना**–आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करता है। यदि चुनाव चिह्न के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाए तो इस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निपटारा करेगा।

5. **अर्द्ध न्यायिक कार्य**–संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध न्यायिक कार्य भी सौंपे गए हैं जिसमें दो उल्लेखनीय है। अनुच्छेद 103 के अंतर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओं के संबंध में परामर्श कर

सकता है तथा 192वें अनुच्छेद के अंतर्गत राज्य विधानमंडल के सदस्यों के संबंध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया गया है।

6. **अन्य कार्य**–आयोग को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौंपे गए हैं जो इस प्रकार हैं–

(क) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता तैयार करना।

(ख) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएँ दिलवाना।

(ग) उम्मीदवारों द्वारा किए जाने वाले कुछ व्यय की राशि निश्चित करना।

(घ) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना।

(ङ) चुनाव याचिकाओं आदि के संक्षेप में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यों के संबंध में प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रक्रिया के सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा। चुनाव आयोग मतदान की तिथियों की घोषणा करता है।

नोट

मुख्य निर्वाचन आयुक्त	
1. सुकुमार सेन	21 मार्च, 1950–19 दिसंबर, 1958
2. के.वी.के. सुंदरम	19 दिसंबर, 1958–30 सितंबर, 1967
3. एस.पी.सेन वर्मा	1 अक्टूबर, 1967–30 सितंबर, 1972
4. डॉ. नगेंद्र सिंह	1 अक्टूबर, 1972–6 फरवरी, 1973
5. टी. स्वामीनाथन	7 फरवरी, 1973–17 जून, 1977
6. एस.एल. शकधर	18 जून, 1977–17 जून, 1982
7. आर.के. त्रिवेदी	18 जून, 1982–31 दिसंबर, 1985
8. आर.वी.एस. पैरीशास्त्री	1 जनवरी, 1986–25 नवंबर, 1990
9. श्रीमती वी.एस. रमा देवी (कार्यवाहक)	26 नवंबर, 1990–11 दिसंबर, 1990
10. टी.एन. शेषन	12 दिसंबर, 1990–11 दिसंबर, 1996
11. एम.एस. गिल	12 दिसंबर, 1996–13 जून, 2001
12. जे.एम. लिंगदोह	14 जून, 2001–7 फरवरी, 2004
13. टी.एस. कृष्णमूर्ति	8 फरवरी, 2004–16 मई, 2005
14. बी.बी. टंडन	17 मई, 2005–29 जून, 2006
15. एन. गोपाल स्वामी	30 जून, 2006–20 अप्रैल, 2009
16. नवीन चावला	21 अप्रैल, 2009–29 जुलाई, 2010
17. एम.वाई. कुरैशी	30 जुलाई, 2010–10 जून, 2012
18. वी.एस. संपत	11 जून, 2012–15 जनवरी, 2015
19. एच.एस. ब्रह्मा	16 जनवरी, 2015–18 अप्रैल, 2015
20. डॉ. नसीम जैदी	19 अप्रैल, 2015–05 जुलाई, 2017
21. श्री ए.के. जोति	06 जुलाई, 2017–22 जनवरी, 2018
22. श्री ओम प्रकाश रावत	23 जनवरी, 2018–01 दिसंबर, 2018
23. श्री सुनील अरोड़ा	02 दिसंबर, 2018–अब तक।

निर्वाचन आयुक्त

1. *सुनील अरोड़ा*–मुख्य निर्वाचन आयुक्त 02-12-2018
2. *सुशील चन्द्रा*–निर्वाचन आयुक्त
3. *राजीव कुमार*–निर्वाचन आयुक्त

- क्या चुनाव आयोग को अनुच्छेद 174 के हर हालत में पालन के लिए राज्य में स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने को केंद्र सरकार और राज्य सरकार से संसाधनों की मदद लेनी चाहिए।

सुप्रीम कोर्ट की राय

नोट

- अनुच्छेद 174 और 324 को अलग-अलग देखा जाना चाहिए। दोनों अनुच्छेद अलग-अलग परिस्थितियों के लिए हैं। दोनों में से किसी एक को दूसरे के अधीन नहीं लाया जा सकता।
- अगर सदन समय से पहले भंग होता है तो छह माह में चुनाव कराने की मजबूरी नहीं है। इसलिए राष्ट्रपति शासन वाला अनुच्छेद 356 यहाँ लागू नहीं होता।
- चुनाव कराने का जिम्मा संविधान ने स्वायत्त संवैधानिक संस्था चुनाव आयोग को सौंपा है। इसका विधायिका या संसद से कोई लेना-देना नहीं है। चुनाव कार्यक्रम तय करना सिर्फ आयोग की जिम्मेदारी है।

15.10. भारतीय चुनाव सुधार (Indian Election Reform)

भारत 15 अगस्त 1947 को आजाद हुआ। भारत में प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार का अधिकार प्राप्त है। (वयस्क पुरुष और स्त्री को)। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि चुनाव के प्रति जनता की आस्था कम होती जा रही है। उसका एक मात्र कारण है हमारे देश का राजनीतिक व्यवहार। चुनाव करा लेने से ही लोकतंत्र नहीं कहलाता है। पाकिस्तान, फिलिपाइंस आदि देशों में भी चुनाव होता है। हिटलर ने भी चुनाव कराया था क्या इसे हम लोकतंत्र कह सकते हैं। इसके लिए यह भी देखना आवश्यक है कि चुनाव प्रणाली कैसी है। जन प्रतिनिधि कैसा है। उसके क्रिया-कलाप कैसे हैं आदि।

वर्तमान समय में राजनीतिक दल धन और बंदूक की नोक पर टिके हैं। इसमें गुटों और पुलिस की भी सहभागिता है। राजनीतिक दल इसे अपना अधिकार समझ बैठे हैं। 1985 के चुनाव (लोकसभा) में भी चुनाव आयोग ने एक रिपोर्ट पेश की थी। 254 निर्वाचन केंद्रों में चुनाव के अवैध तरीके प्रयोग में लाए गए। इससे न सिर्फ निर्वाचन पद्धति पर आँच आती है बल्कि उसके कानूनों पर भी।

आजादी (15 अगस्त 1947) के बाद से लेकर 1987 तक के शासन काल में कांग्रेस 50% से अधिक मत कभी नहीं पायी। यह सच है कि 1985 के आम चुनाव (लोकसभा) में भारतीयों के अपार मत श्रीमती इंदिरा गाँधी के अस्थि कलश में डाले गए लेकिन फिर भी कांग्रेस का मत प्रतिशत 49.16% ही रहा। जो कुल मत का 34.3% ही था।

चुनाव में उम्मीदवार द्वारा धन खर्च किए जाने पर कानून द्वारा प्रतिबंधित तो है लेकिन व्यवहार में शायद ही नियमित रूप से कोई उम्मीदवार धन खर्च करता हो। क्योंकि दल द्वारा किए गए खर्च और उम्मीदवार द्वारा किए गए खर्च को अलग-अलग खर्च मान उम्मीदवारों को धन खर्च करने की छूट दे दी गयी है। सर्वोच्च न्यायालय ने भी एक मुकदमें में इसकी पुष्टि कर दी है। निर्वाचन में अपार धन के व्यय को रोकना होगा। इसकी सिफारिश भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त श्री त्रिवेदी ने भी की थी और चुनाव आयुक्त श्री पेरीशास्त्री ने भी की है और टी. एन. शेषन का भी विचार है कि उम्मीदवारों को सरकार द्वारा मतदाता सूची रियायती दरों पर कागज आदि उपलब्ध कराना चाहिए। पश्चिम जर्मनी, जापान, इटली और यूरोप के कई देशों में सरकारी कोष से उम्मीदवारों को एक निश्चित धन राशि चुनाव में खर्च करने की व्यवस्था सफल हुई है। किंतु भारत में जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक तो चुनाव के बाद उम्मीदवारों को प्रस्तुत किए जाने वाल खर्च ब्योरे की जाँच भी तो निष्पक्ष ढंग से 15 जुलाई 1985 को चुनाव आयोग ने चुनाव सुधार से संबंधित प्रश्नावली पर राजनीतिक दलों से सुझाव माँगा पर इंका ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। स्मरणीय है श्रीमती गाँधी ने अपने शासन काल के दौरान चुनाव आयोग द्वारा प्रस्तुत की गयी सुझाव की जाँच हेतु एक कैबिनेट (Cabinet) स्तर की समिति नियुक्त की थी।

चुनाव आयोग अंग्रलिखित सुझावों को पहले भी प्रस्तुत कर चुका है और आज भी प्रस्तुत कर रहा है। चुनाव पद्धति में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिए गए हैं–

1. उम्मीदवारों की संख्या कम करने के लिए लोकसभा के प्रत्याशी को अग्रिम राशि 25000 रु. तथा विधानसभा के प्रत्याशी को अग्रिम राशि 10000 रु. जमा करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

छात्र क्रियाकलाप

1. वयस्क मताधिकार पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

2. चुनाव आयोग के कार्यों का संक्षिप्त में उल्लेख कीजिए।

नोट

2. 20% मत (कुल मत का) प्राप्त होने पर ही उम्मीदवार का जमानत बचा हुआ माना जाना चाहिए वरना जब्त हो जानी चाहिए।

3. संसदीय प्रत्याशी हेतु नामांकन पत्र भरते वक्त एक M.L.A. द्वारा उसके नामांकन पत्र पर अनुमोदित होना चाहिए तथा विधानसभा प्रत्याशी हेतु उस क्षेत्र के 20 प्रत्याशियों की सूची जनमत के लिए पेश की जानी चाहिए। जनमत द्वारा जिस प्रत्याशी को स्वीकृति मिले उसे ही निर्वाचन हेतु टिकट देना चाहिए।

4. मान्यता प्राप्त दल को ही सरकार द्वारा सुविधा दी जानी चाहिए अन्य दलों को नहीं।

5. वैसा व्यक्ति जो हिस्ट्रीशीटर हो, खूनी हो, अपराधी हो, तस्करी में पकड़ा गया हो, नैतिक अपराधी हो। चाहे ऐसा व्यक्ति 2 वर्ष की ही सजा क्यों न काटा हो। उम्मीदवार बनने हेतु इन्हें अयोग्य माना जाना चाहिए।

6. एक उम्मीदवार को एक ही निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव लड़ने की अनुमति देनी चाहिए, दो क्षेत्रों से नहीं।

7. उम्मीदवारों को नामांकन पत्र भरते समय आयकर विभाग द्वारा अभिप्रमाणित अपनी संपूर्ण धनराशि का ब्योरा पेश किया जाना चाहिए।

8. राजनीतिक दल को भी अपनी आय का ब्योरा पेश करना चाहिए।

9. जो उम्मीदवार चुनाव में अवैध तरीके का सहारा लेते हैं उन्हें 6 वर्ष हेतु उम्मीदवार बनने से अयोग्य माना जाना चाहिए और दंड की व्यवस्था होनी चाहिए।

10. चुनाव के दरमियान सरकारी पदाधिकारियों या कर्मचारियों द्वारा चुनाव में अवैध तरीके अपनाने में मदद किए जाने पर इन्हें भी कठोर दंड से दंडित किया जाना चाहिए।

11. जिन लोगों में 30% मतदान हो वहाँ पुनः मतदान कराया जाना चाहिए।

12. स्वतंत्र उम्मीदवारों को निर्वाचित होने के बाद किसी दल में शामिल होने की छूट नहीं दी जानी चाहिए।

13. जिसे मतदान केंद्रों पर चुनाव के अवैध तरीके अपनाए जाएँ उस निर्वाचन क्षेत्र (पूरे) में फिर से मतदान कराना चाहिए।

14. चुनाव प्रचार के लिए मंत्रियों, प्रधानमंत्रियों, राजनेताओं द्वारा सरकारी तंत्र का दुरुपयोग तथा सरकारी कोष से खर्च नहीं करना चाहिए।

15. चुनाव के समय समाचार पत्रों पर से युक्तियुक्त प्रतिबंध को हटा लेना चाहिए जिससे वास्तविकता मालूम हो सके।

16. जिस निर्वाचन क्षेत्र में जिस जाति की अधिक बहुलता हो या जिस संप्रदाय का दबदबा हो, वहाँ से उस जाति या संप्रदाय के व्यक्ति को उम्मीदवार नहीं बनाना चाहिए।

17. समाज के पिछड़े वर्गों के लिए मतदान की अलग व्यवस्था होनी चाहिए।

18. अवैध मतदान करने वाले व्यक्ति को 6 वर्ष का सश्रम कारावास विधि द्वारा निश्चित कर देना चाहिए।

19. स्त्रियों के अलग तथा पुरुषों के अलग मतदान केंद्र होने चाहिए तथा दोनों के मतदान केंद्रों पर दोनों वर्गों के ही कर्मचारी चुनाव कार्य में उपस्थित रहें।

20. चुनाव क्षेत्रों के पर्यवेक्षक उस राज्य के वरिष्ठ अधिकारी नहीं होने चाहिए।

21. संवेदनशील क्षेत्रों में चुनाव सेना की उपस्थिति में कराया जाना चाहिए।

22. संपूर्ण मतदान केंद्रों पर केंद्रीय रिजर्व पुलिस के जवान अपने नियंत्रक के साथ बहाल किए जाने चाहिए।

23. पत्र पर शब्दात केंद्र निर्मित करते समय यातायात की सुविधा का ज्यादा खयाल रखा जाना चाहिए।

24. मतदान से पूर्व सभी प्रकार के समाज विरोधी कार्यवाही करने वाले व्यक्ति को (जो न्यायालय द्वारा दंडित या दोषी पाए गए हों) मताधिकार से वंचित कर उन्हें हिरासत में ले लेना चाहिए।

25. चुनाव में खड़े उम्मीदवार को बैठने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

26. चुनाव के दौरान या चुनाव काल तक Law and order maintain करने की जिम्मेवारी स्वतंत्र रूप से चुनाव आयोग पर छोड़ देनी चाहिए।

27. चुनाव आयोग को कुछ नियंत्रण मुक्त बनाना चाहिए।

28. जनता की प्रतिनिधित्व प्रणाली में भी संशोधन किया जाना चाहिए।

29. मत-पत्र के प्रयोग की जगह इलेक्ट्रॉनिक मतदान मशीन द्वारा मतदान कराना।

उपरोक्त वर्णित सुधारों के संबंध में यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो उसमें से बहुत सुझाव अमल करने योग्य हैं। उल्लेखनीय है भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 के द्वारा व्यवहारतः प्रधानमंत्री की राय से राष्ट्रपति चुनाव आयोग का गठन करता है। इसमें मुख्य कर्ता भारतीय प्रशासनिक सेवा के सेवक होते हैं। इस प्रकार यह कार्यपालिका की कठपुतली बन जाता है।

सरकार द्वारा दल-बदल के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की व्यवस्था की जा रही है। किसी निर्दलीय उम्मीदवार की मृत्यु हो जाने पर चुनाव स्थगित नहीं किए जायेंगे। राष्ट्रपति ने 1992 में एक अध्यादेश के माध्यम से चुनाव प्रचार की न्यूनतम समय सीमा को 20 दिनों से घटाकर 14 दिन कर दिया है।

देश की राजनीति से दल-बदल को समाप्त करने तथा भारी-भरकम मंत्रिपरिषदों के निर्माण पर प्रतिबंध लगाने के लिए 97 वाँ संविधान संशोधन विधेयक को दिसंबर, 2003 में संसद से पारित कर दिया गया है। इस अधिनियम के अनुसार यदि कोई सांसद या विधायक अपने दल से किसी भी कारण से त्यागपत्र देता है तो उसे दल-बदल माना जाएगा और संबंधित संवैधानिक इकाई से उसकी सदस्यता तुरंत प्रभाव से समाप्त हो जाएगी। साथ ही वह अगला चुनाव जीतने तक मंत्री पद सहित कोई भी लाभ का पद नहीं ले सकेगा। इस विधेयक में मंत्रिपरिषद का आकार लोकसभा या विधानसभा की संख्या के 15 प्रतिशत तक सीमित रखने का प्रावधान किया गया है। छोटे राज्यों के संबंध में मंत्रियों की संख्या बारह तक की जा सकती है।

मतदाताओं को सभी राज्यों में फोटोयुक्त परिचय पत्र देने का कार्य लगभग पूरा किया जा रहा है। राजनीतिक अपराधी छवि वाले व्यक्तियों को राजनीति से अलग करने संबंधी नियम भी बनाए जा रहे हैं। इस प्रकार भारत सरकार द्वारा निर्वाचन सुधार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए जनता को जागरूक एवं शिक्षित होना जरूरी है।

भारतीय चुनाव प्रणाली में वास्तविक रूप से सुधार तभी आ सकता है जबकि भारतीय जनता अंग्रेजों के समान शिक्षित और जागरूक हो। भारत में आज भी शिक्षा की कमी है। जनता की बेबसी है। भारत सरकार को इसे दूर करना होगा। निर्वाचन में प्रतिनिधित्व जनता के प्रतिनिधि करते हैं। इसलिए वह जितने अच्छे तरीके से उसे पहचान सकती है, सरकारी तंत्र उसे क्या पहचानेगा लेकिन विधि निर्माण जनमत के निर्णय से जरूर मिला हुआ होना चाहिए। जनता और सरकारी तंत्र दोनों को चुनाव के दौरान एक-दूसरे का सहयोगी बनना होगा तथा जनमत को वास्तविक रूप में अपना परिचय प्रस्तुत करना होगा तभी भारतीय चुनाव प्रणाली में कुछ सुधार के आसार नजर आएँगे। न्यायपालिका को चुनाव संबंधी मामलों का निपटारा जल्द करना चाहिए। आज के राजनैतिक परिवेश को जो हालत है उसमें कुछ भी कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार की घटनाएँ घटा करती हैं, जिस प्रकार के नाटक रचाए जाते हैं यदि ऐसी ही हालत बनी रही तो चुनाव बस एक औपचारिकता बन जाएगी लोकतंत्र सिर्फ नाम का कहलाएगा। इसके लिए यह जरूरी है कि जनता अपने नैतिक स्तर को ऊँचा करे।

नोट

15.11. सारांश (Summary)

वर्तमान युग प्रजातंत्र का युग है। संसार के अधिकांश देशों में प्रजातांत्रिक पद्धति की सरकारें ही प्रचलित हैं। जनता की सरकार को ही प्रजातंत्र कहते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के सदस्य होने के नाते यह नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य के प्रशासन में भाग ले सके और उसके लिए उन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में हाथ बँटा सके, जिन्हें राज्य का शासन चलाना है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन उसे कहते हैं जहाँ मतदाता अपने प्रतिनिधियों को स्वयं निर्वाचित करते हैं। वे प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं मत देते हैं। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष प्रणाली में मतदाता प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं भाग नहीं लेते बल्कि कुछ ऐसे लोगों को चुनते हैं जो उसके बदले में प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं अर्थात् प्रतिनिधियों का निर्वाचन मतदाता द्वारा निर्वाचित एक निर्वाचक मंडल (Electoral College) द्वारा होता है, स्वयं मतदाता द्वारा नहीं।

आम चुनाव के लिए देश को कई भागों में बाँट दिया जाता है जिसे निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) कहते हैं। निर्वाचन-क्षेत्र दो तरह का होता है। एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Single member constituency) और

बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Multi member constituency)। जिस क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता हो उसे एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र और जिससे एक से अधिक सदस्य चुने जाते हों उसे बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता है।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार जनता प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली की आधारशिला है। जनता ही शासन की संपूर्ण शक्तियों का आधार है।

नोट

15.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. बताइए कि संविधान यह किस प्रकार सुनिश्चित करता है कि चुनाव आयोग एक स्वतंत्र निकाय के रूप में कार्य करेगा?
2. सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति तथा सीटों के आरक्षण के साथ संयुक्त निर्वाचन प्रणाली में क्या अंतर है? भारतीय संविधान निर्माताओं ने सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति को अस्वीकार क्यों किया?
3. भारत में स्वतंत्र तथा निष्पक्ष चुनाव सुनिश्चित करने के लिए क्या उपाए किए गए हैं?
4. आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण तथा दोष क्या हैं?
5. प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में अंतर कीजिए।
6. भारत में चुनाव सुधार से संबंधित कुछेक प्रमुख सुझावों पर चर्चा करें।
7. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली का क्या अर्थ है? राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव किस प्रकार किया जाता है?
8. साधारण बहुमत प्रणाली के क्या दोष हैं? भारत ने इस प्रणाली को क्यों अपनाया?
9. भारत में चुनाव आयोग की शक्तियों तथा कार्यों को स्पष्ट कीजिए।

□□□

नोट

अध्याय-16

धर्मनिरपेक्षता (Secularism)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

16.1. उद्देश्य (Objectives)
16.2. परिचय (Introduction)
16.3. धर्मनिरपेक्षता (Secularism)
16.4. धर्मनिरपेक्षता के तत्त्व (Element of Secularization)
16.5. धर्मनिरपेक्षता के कारक (Factors of Secularization)
16.6. सारांश (Summary)
16.7. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

16.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को जानने में;
- धर्मनिरपेक्षता के तत्वों एवं कारकों को समझने में।

16.2. परिचय (Introduction)

स्वतंत्रता के बाद भारत में विश्व के अन्य देशों की भाँति एक संविधान का निर्माण किया गया। संविधान निर्माताओं ने देश की एकता एवं अखंडता को बरकरार रखने के लिए संविधान में पंथनिरपेक्षता को आधार मानकर संविधान का निर्माण किया। भारत एक विचित्र देश है। यहाँ अनेकता में एकता का अपना महत्त्व है। सभी धर्म के लोग एकता के सूत्र में बँधकर अपने कार्यों का संपादन करते हैं। धर्म निरपेक्षता का अर्थ यह है कि भारत में कोई राज्य धर्म नहीं है, राज्य का क्षेत्र और धर्म का क्षेत्र अलग-अलग है। संविधान के द्वारा भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। संविधान के 42वाँ संशोधन अधिनियम के अंतर्गत धर्मनिरपेक्ष शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। राज्य को किसी धर्म से कोई मतलब नहीं है। धर्म एक व्यक्तिगत चीज मानी गई है, कोई सार्वजनिक महत्त्व की वस्तु नहीं है। धर्म के संबंध में राज्य बिल्कुल निरपेक्ष है, पूर्णतया तटस्थ है। धर्म से उनका कोई प्रयोजन नहीं हैं। सरकार न किसी धर्म को सहायता ही देगी और न उसकी प्रगति के मार्ग में बाधा ही उपस्थित करेगी। संविधान में धर्मनिरपेक्षता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है और इस पर हम सभी को गर्व है। भारत में रहने वाले अल्प संख्यकों में विश्वास पैदा करने के लिए ये उपबंध आवश्यक थे। धर्मनिरपेक्षता प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र का प्रमुख लक्षण माना जाता है और इस तरह की पद्धति भारत जैसे देश के लिए आवश्यक है क्योंकि यहाँ विभिन्न धर्म, भाषा, नस्ल के लोग एक ही जगह रहते आए हैं।

नोट

16.3. धर्मनिरपेक्षता (Secularism)

धर्मनिरपेक्षता राजनीतिशास्त्र की एक जटिल अवधारणा है। आज का युग स्वतंत्रता और समानता का युग है। अत: धर्म के नाम पर अथवा धर्म के आधार पर नागरिकों में भेदभाव करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना आज के युग की पुकार है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ ही होता है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं हो और धर्म के आधार पर वह नागरिक-नागरिक के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता हो।

भारतीय संविधान के अनुसार भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। अर्थात् राज्य धर्म व जाति आदि के आधार पर किसी व्यक्ति अथवा संस्था को किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं करेगा। परंतु हरिजन आदिवासियों तथा समाज के दबे कुचले एवं पिछड़े वर्गों के लोगों को केवल कुछ समय के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ दी गई हैं ताकि वे समाज एवं राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़ सकें एवं अपने जीवन स्तर को ऊपर उठा सकें। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि सभी नागरिकों को धर्म, विश्वास, पूजा इत्यादि बातों में स्वतंत्रता होगी और सबको न्याय एवं अवसर की समानता समान रूप से प्रदान की जाएगी और वे अपने धार्मिक विचारों का प्रचार स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते हैं। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य यह नहीं है कि भारत सरकार अपने नागरिकों को नास्तिक अथवा विधर्मी बनाना चाहती है। इसका अर्थ यह है कि राज्य एवं केंद्र की सरकारें धार्मिक कृत्यों में तटस्थ रहेंगी और राज्य किसी धर्म विशेष के साथ पक्षपात नहीं करेगा। भारतीय नागरिकों को यह अधिकार है कि वे अपनी शिक्षण संस्थाएँ खोलकर उनमें धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान की प्रस्तावना में भी धर्मनिरपेक्ष शब्द जोड़ दिया गया है ताकि धार्मिक मामले में जनता द्विग्भ्रमित न हो सभी नागरिक यह महसूस कर सकें कि राज्य धार्मिक मामलों में अथवा धार्मिक आधार पर नागरिक-नागरिक के बीच कोई विभेद नहीं करेगा अर्थात् धर्म के मामले में राज्य तटस्थ रहेगा। इतना जान लेने के बाद Secularization के अर्थों को सही परिपेक्ष्य में जान लेना यहाँ पर आवश्यक प्रतीत होता है।

Secularization शब्द Secular से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ *धर्मनिरपेक्ष* होता है *Chambers English Hindi Dictinary* में Secular का शाब्दिक अर्थ *सर्व धर्म समतापरक, धर्मनिरपेक्ष* तथा *असंप्रदायिक बतलाया गया है।* अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि वह नागरिकों को धर्म में विश्वास रखने पर रोक लगाने वाला होता है इसका वास्तविक अर्थ होता है धार्मिक मामलों में राज्य की तटस्थता। धर्मनिरपेक्ष राज्य में सभी नागरिकों को धार्मिक अधिकार प्राप्त रहते हैं। यों तो Secular या Secularization की परिभाषाओं के संबंध में विद्वानों में मतैक्यता का अभाव है। इस संबंध में कहा जाता है कि जितने लेखक हैं उतने ही अलग-अलग ढंग से उन्होंने इसके अर्थ बतलाए हैं। इस संबंध में **आर. वेंकटरमण** की परिभाषा अधिक सटीक एवं सोद्देश्यपूर्ण जान पड़ती है जो इस प्रकार है–*"धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक होता है, न अधार्मिक, लेकिन धार्मिक मतों और सिद्धांतों से अपने को अलग रखता है और प्रत्येक नागरिक को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार देता है, इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म के मामले में राज्य (भारत) कोई दखल नहीं देगा। यहाँ का नागरिक अपनी इच्छा से कोई भी धर्म रख सकता है तथा उसका अनुपालन कर सकता है। अपनी इच्छा से वह (यानी बिना राज्य के दबाव के) यदि चाहे तो अपना धर्म परिवर्तन भी कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि धार्मिक मामलों में राज्य की भूमिका तटस्थता की होगी अर्थात् अपने राज्य के सभी नागरिकों के मध्य धार्मिक आधार पर कोई विभेद नहीं किया जाएगा। कानून की निगाह में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी बराबर हैं। अत: जाति, धर्म एवं संप्रदाय के आधार पर राज्य द्वारा नागरिक-नागरिक के बीच किसी प्रकार का विभेद नहीं किया जाएगा।"*

डोनाल्ड यूजीन स्मिथ ने भारतीय संदर्भ में पंथ निरपेक्षता के बारे में लिखा है कि *"पंथ निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा समवेत स्वतंत्रता प्रदान करता है, संवैधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है और जो धर्म का न तो प्रचार करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है।"*

न्यायमूर्ति देसाई ने कहा था, *"एक पंथ निरपेक्ष राज्य व्यक्ति के साथ एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है और उसके पंथ की ओर ध्यान नहीं देता है। वह किसी पंथ विशेष से जुड़ा नहीं होता है और न वह किसी पंथ को बढ़ावा देता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करने का प्रयास करता है। अनिवार्य है कि एक पंथ निरपेक्ष राज्य का धार्मिक कार्यों से कोई संबंध न हो, सिवाय उस स्थिति के जब उनके प्रबंध में अपराध, धोखाधड़ी, अंतर्ग्रस्त हो या वह राज्य की एकता तथा अखंडता के लिए खतरा बन जाए।"*

न्यायमूर्ति गजेंद्र गडकर ने भारतीय संविधान की पंथ निरपेक्षता की परिभाषा देते हुए कहा है कि *"नागरिकों को नागरिक के रूप में समान अधिकार प्राप्त है तथा इस मामले में उनका पंथ या मजहब पूर्णतया अप्रासंगिक है।"* उन्होंने कहा है कि राज्य किसी पंथ विशेष के प्रति आसक्ति नहीं रखता, वह धार्मिक या धर्म विरोधी नहीं होता, वह सभी पंथों को समान स्वतंत्रता प्रदान करता है। भारतीय 'धर्मनिरपेक्षता' ने धर्म के युक्ति युक्त कार्यों के बीच *'तर्क संगत विश्लेषण'* स्थापित करने का प्रयास किया।

नोट

स्वतंत्रता से पूर्व भारत में धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई राजनीतिक स्तर पर लड़ी जा रही थी, जिसमें समाज के सभी वर्गों को स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाता था। यह लड़ाई सांस्कृतिक स्तर पर भी चल रही थी। इसके अंतर्गत प्रत्येक धर्म की पुनः व्याख्या करने की व्यवस्था थी ताकि प्रत्येक संस्कृति की रचनात्मक और गतिशील प्रक्रियाओं को प्रमुखता मिले और विभिन्न संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आएँ परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस लड़ाई का स्वरूप बदल गया। इसे आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक स्तर पर चलाया गया। सभी समुदायों, खासकर उपेक्षित एवं दबे-कुचले वर्गों को विकास कार्यों में शामिल करना धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने के प्रयास की अनिवार्य शर्त बन गई।

धर्मनिरपेक्षता के संबंध में यूरोपीय मॉडल—धर्मनिरपेक्षता का यूरोपीय मॉडल मुख्यतः अमेरिकी मॉडल द्वारा प्रेरित है। इस मॉडल में विशेष बात यह है कि राज्य न तो धर्म के मामले में हस्तक्षेप कर सकता है और न ही धर्म (धार्मिक संस्था) राज्य के मामले में कोई निर्देश दे सकता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र तथा दोनों की सीमाएँ अलग हैं। राज्य अपनी किसी नीति को धार्मिक आधार पर निर्मित नहीं कर सकता है और न धर्म किसी राज्य नीति को धार्मिक आधार पर प्रभावित कर सकता है। राज्य किसी धार्मिक संस्था को किसी भी प्रकार से सहायता नहीं करेगा और न धार्मिक समुदायों द्वारा संचालित शैक्षणिक संस्थाओं को वित्तीय सहयोग देगा। यदि किसी धार्मिक समुदाय का कोई कार्य देश के कानून द्वारा निर्मित सीमा के अंदर है तो राज्य इनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जैसे यदि कोई विशेष धार्मिक समुदाय अपने कुछ सदस्यों को कोई धार्मिक कार्य करने से निषेध कर देता है तो इसमें राज्य उन सदस्यों का पक्ष लेते हुए कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि धर्म एक निजी मामला है और वह राज्य का विषय नहीं हो सकता।

16.4. धर्मनिरपेक्षता के तत्त्व (Element of Secularization)

धर्मनिरपेक्षता के तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. समानता का विकास—भारत में पहले धर्म, जाति लिंग आदि के आधार पर भेदभाव किया जाता था। हिंदुओं में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। किंतु धर्मनिरपेक्षता के कारण इस प्रकार के भेदभाव समाप्त हो गए।

2. धार्मिकता का ह्रास—धर्मनिरपेक्षता की जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे ही धर्म का ह्रास होने लगता है। मानवीय व्यवहार और सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करने में धर्म के हस्तक्षेप को उचित नहीं माना जाता है।

3. तार्किकता—धर्मनिरपेक्षता में तर्क को बहुत महत्त्व दिया जाता है और जीवन में आने वाली प्रत्येक समस्या पर तर्क और बुद्धि के आधार पर विचार किया जाता है न कि धार्मिक और ईश्वरीय आधार पर। तार्किकता का बढ़ना ही धर्मनिरपेक्षता है।

4. विभेदीकरण—धर्मनिरपेक्षता में विभेदीकरण बढ़ता जाता है अर्थात् समाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक पक्ष एक दूसरे से अलग कर दिए जाते हैं। इन सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रभाव कम हो जाता है। जैसे—पहले राजा पुरोहित के अधीन होता था परंतु आज धर्म और राजा अलग-अलग हो गए हैं।

5. आधुनिकीकरण की प्राप्ति में सहायक—प्रत्येक समाज आज अपने को आधुनिक कहलवाना पसंद करता है इस लिए परंपरागत आचार-व्यवहारों में परिवर्तन करना आवश्यक है। भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित होने के बाद यहाँ के परंपरागत व्यवहार प्रतिमान में बहुत परिवर्तन हुआ।

6. वैज्ञानिक अवधारणा—धर्म चूँकि श्रद्धा की वस्तु है इसलिए उसमें तर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता जबकि धर्मनिरपेक्षता तार्किकता पर बल देती है और उसी वस्तु को सही मानती है जिसमें कार्य-कारण का संबंध स्पष्ट हो।

भारत 15 अगस्त, 1947 को आजाद हुआ। 26 जनवरी, 1950 को इसने अपना संविधान लागू किया। भारतीय संविधान में पंथनिरपेक्षता या धर्म निरपेक्षता शब्द को लाया गया है जो संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता भी है। अनेकता में एकता को आधार मानकर यह हिमालय से कन्याकुमारी तक एक है। यहाँ पर सर्व धर्म समन्वय की बात होती है।

नोट

भारत में वास्तविक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना कैसे की जाए (How to achieve a genuine Secular State in India)

धर्मनिरपेक्षता आधुनिक युग की माँग है। भिन्न धर्मों वाले देश के लिए यह और भी आवश्यक है। ब्रिटेन तथा पाकिस्तान अपने आपको धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं कह सकते। भारत में भी इस शब्द के वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। भारत में भिन्न धर्मों के लोग कई बार इसका अर्थ अपने ढंग से ही लगाते हैं जिससे हमारे नवराष्ट्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है। नेहरू ने 1954 में कहा था, "भारत के लिए 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द ठीक नहीं है, बेहतर शब्द न होने के कारण इसका प्रयोग किया जा रहा था।" डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में, "भारतीय राज्य की धार्मिक तटस्थता को धर्मनिरपेक्षता अथवा नास्तिकता से नहीं गड़बड़ाना चाहिए। यह धर्मनिरपेक्षता प्राचीन भारतीय परंपराओं के अनुकूल है।"

इसलिए सच्चे अर्थों में धर्मनिरपेक्ष बनने के लिए हमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अपनाना पड़ेगा जिसके बिना भारत भारत नहीं हो सकता। संस्कृति का अर्थ विभिन्न समूहों की भौतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा कलात्मक उपलब्धियाँ हैं। इसमें सांझे मूल्य तथा विश्वास सम्मिलित होते हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति को अपनाने के लिए हमें हिंदू, बौद्ध, जैन, सिक्ख तथा मुस्लिम धर्मों के पाठों को ग्रहण करना चाहिए। प्रायः एक धर्म के लोगों को दूसरे धर्मों का ज्ञान नहीं है। ऐसे सांझे ज्ञान के बिना हम भारतीय संस्कृति को पूरी तरह नहीं समझ सकते।

किंतु भारतीय राजनीति में धर्मनिरपेक्षता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जनसंघ जिसे सांप्रदायिक दल समझा जाता था, ने भी अपने आपको राष्ट्रीय दल घोषित किया है जिसका सदस्य किसी भी धर्म का व्यक्ति बन सकता है। कुछ मुसलमान इसके सदस्य बन भी गए हैं। अब कोई भी राजनीतिज्ञ खुले तौर पर धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत में धर्मनिरपेक्षता की जड़ मजबूत है। यह अच्छी बात है और इससे भारत में स्वस्थ राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण बनाए रखने में सहायता मिलती है।

भारतीयकरण का महत्त्व (Importance of Indianisation)

धर्मनिरपेक्षता को भारत में वास्तव में सफल बनाने के लिए भारतीयकरण की अत्यंत आवश्यकता है। भारतीयकरण का अर्थ भारत के लोगों को हिंदुकरण, इस्लामीकरण अथवा पाश्चात्यकरण नहीं है। भारतीयकरण का अर्थ धर्मनिरपेक्ष आदर्शों का संश्लेषण है। इसे धर्मनिरपेक्षता को और बढ़ावा देना चाहिए न कि उनके विरुद्ध जाना चाहिए। भारतीयकरण से अभिप्राय यह है कि प्रत्येक भारतीय को भारतीय राष्ट्रिक बनना चाहिए। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए यह आवश्यक है। भिन्नता में एकता तभी आ सकती है यदि सभी भारतीय अपने आपको भारतीय राष्ट्रिक समझें। सहनशीलता अत्यंत आवश्यक है। राष्ट्रीय एकता के लिए दूसरे धर्मों के प्रति सहनशीलता अनिवार्य है। एक धर्म के व्यक्तियों को दूसरे धर्म, दूसरी संस्कृति तथा दूसरी सामाजिक पृष्ठभूमि का ज्ञान होना चाहिए तथा उसके प्रति सहनशीलता होनी चाहिए। कोई भी अपना धर्म तथा रीतियाँ छोड़े बिना किसी दूसरे धर्म तथा रीतियों के प्रति पूर्णतया सहनशील हो सकता है।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की सफलता (Success of Concept of Secularism in India)

भारत में पर्याप्त सीमा तक धर्मनिरपेक्षता की भावना सफल रही है। भिन्न धर्मों के लोग परस्पर निकट आए हैं। आधुनिकीकरण तथा पाश्चात्यकरण के साथ धर्मनिरपेक्षता का विचार भी भारत में बराबर पनपा है। लोग धार्मिक दृष्टिकोण की बजाय तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। एम.एन. श्रीनिवास के मतानुसार स्वतंत्रता के बाद हिंदुओं पर धर्मनिरपेक्षता का बहुत प्रभाव पड़ा है। हिंदुओं में से ब्राह्मणों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। ऊँची जाति के हिंदुओं और अन्य हिंदुओं का सामाजिक अंतर भी समाप्त हो रहा है। इसका जाति प्रथा पर भी प्रभाव पड़ा है। जाति प्रथा समाप्त तो नहीं हुई है लेकिन इसका रूप बदल गया है। जाति अब राजनीति के लिए इतनी आवश्यक हो गई जितनी कि राजनीति के लिए जाति। लाभ उठाने के लिए भिन्न जातियों में प्रतियोगिता है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज में परिवर्तन आ गया है। परिवार में भी परिवर्तन हो गया है। संयुक्त परिवार के स्थान

छात्र क्रियाकलाप

1. धर्मनिरपेक्षता का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

2. भारत में वास्तविक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना कैसे की जाए? संक्षेप में लिखिए।

पर अब एकल परिवार है। धर्मनिरपेक्षता का धार्मिक मठों तथा उनके मुखियाओं पर भी प्रभाव पड़ा है। शिक्षित हिंदू अब यह अनुभव करते हैं कि उनकी संपत्ति को शिक्षा तथा सामाजिक कल्याण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

नोट

धर्मनिरपेक्षता के विरोधी घटक (Factors that threaten Secular State in India)

भारत में कई ऐसे घटक तथा शक्तियाँ हैं जो धर्मनिरपेक्ष राज्य के विकास में बाधक हैं। ये निम्नलिखित हैं–

1. सांप्रदायिकता (Communalism)–सांप्रदायिकता का अर्थ है सारे राष्ट्र से अधिक अपने धार्मिक समुदाय के प्रति निष्ठा रखना। सांप्रदायिक चुनावों को समाप्त करने के बाद भी देश में सांप्रदायिकता समाप्त नहीं हुई है। अभी तक भी यह एक राजनीतिक शक्ति बनी हुई है और कई बार इलाहाबाद, अलीगढ़, दिल्ली, मेरठ तथा कलकत्ता में हिंसात्मक दंगों के रूप में फूटकर सामने आती है।

2. जातिवाद (Casteism)–संवैधानिक दृष्टि से तो जातिवाद को समाप्त कर दिया गया है लेकिन भारतीय समाज में अभी तक यह प्रचलित है। भारत में लगभग सभी राजनीतिक दल अभी तक किसी चुनाव-क्षेत्र की जनसंख्या की जाति के आधार पर ही चुनाव लड़ते हैं।

भारत में साम्यवादी दल, जो धर्मनिरपेक्ष है और जातिरहित तथा वर्गरहित समाज में विश्वास रखता है ने भी जातिवाद से समझौता कर लिया है। आंध्र प्रदेश में साम्यवादी दल के इतिहास को काम्मा और रेड्डी जातियों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

मोरिस जोंस के शब्दों में, *"जाति अथवा समुदाय पारंपरिक राजनीति का केंद्र है। सारा सामाजिक ढाँचा इससे जुड़ा हुआ है। यह सब ओर व्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष जाति अथवा समुदाय में उत्पन्न होता है और उससे समाज में एक विशेष स्थान पाता है जिससे उसका सारा व्यवहार तथा दृष्टिकोण प्रभावित होता है।"*

3. भाषावाद (Lingualism)–भाषावाद न केवल राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा है बल्कि भारत में एक सच्चे धर्मनिरपेक्ष राज्य के विकास में भी बाधा है। अज्ञानतावश उर्दू तथा संस्कृत जैसी कई भाषाओं को विशेष धर्मों से संबद्ध किया जाता है।

4. धार्मिक समुदायों के साथ भिन्नात्मक व्यवहार (Differential Treatment with Religious Communities)–भारतीय राज्य के सम्मुख एक बड़ी कठिनाई है। धर्मनिरपेक्षता के कड़े अर्थों के अनुसार यह ('सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता तथा स्वास्थ्य' के आधार के अतिरिक्त) किसी सामाजिक रीति में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। दूसरी ओर सामाजिक न्याय भारतीय सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तनों की माँग करता है।

प्रो. स्मिथ के मतानुसार, *"भारत में राज्य की संवैधानिक शक्तियों पर धर्मनिरपेक्षता के नाम पर लगाई गई सीमाओं को अनुभव नहीं किया जाता। प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है। यदि सरकार सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के विस्तृत क्षेत्रों को विनियमित कर सकती है तो उसी प्रकार वह धार्मिक क्षेत्र को विनियमित क्यों नहीं कर सकती?"*

भारत में कुछ राज्यों ने हिंदी मंदिरों को 'सुधारने' का कार्य किया है। 1950 का मद्रास पशु तथा पक्षी बलिदान उन्मूलन अधिनियम राज्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक सुधार करने का एक उदाहरण है। धर्म को सुधारने के आधार पर ही हिंदू कोड बिल पास किया गया था। इसी प्रकार मंदिर प्रबंध को सुधारने के लिए और बिल पास किए गए हैं। कुछ निजी संपत्ति अधिनियम भी बनाए गए हैं जो केवल हिंदुओं पर लागू होते हैं। सरकार द्वारा किसी मुस्लिम प्रथा को नहीं छुआ गया है। यह अद्भुत बात है कि सरकार भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य में भिन्न धर्मों के लोगों के सुधार के संबंध में भिन्न विचार रखती है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री वी.पी. सिंह ने राम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद समस्या का समाधान धर्मनिरपेक्षता के आधार पर करने पर बल दिया था।

5. सरकारी उत्सवों में रीतियों का प्रचलन (Continuance of Religious Observance in Official Functions)–मंत्री शपथ लेते समय अपने-अपने धर्मों की रीतियों का अनुसरण करते हैं। जहाजों तथा संस्थाओं का उदघाटन भी धार्मिक रीतियों से होता है। इनके लिए ब्राह्मणों को बुलाया जाता है। धर्मनिरपेक्षता पर बुरा प्रभाव डालने वाली बात सांप्रदायिक दलों में वृद्धि है। धर्मनिरपेक्षता की भावना के विकास के मार्ग में ऐसे दल बाधा उत्पन्न करते हैं।

6. पाकिस्तान के साथ संबंध (Relation with Pakistan)–वी.के. सिन्हा के मतानुसार, भारत में धर्मनिरपेक्षता का भविष्य पाकिस्तान के साथ उनके संबंधों से जुड़ा हुआ है। पाकिस्तान भारत की धर्मनिरपेक्षता पर संदेह करता है। पाकिस्तान का जन्म ही धर्मनिरपेक्षता के विरोध में हुआ था। पाकिस्तान अपने आपको इस्लामी

मूल्यों का संरक्षक मानता है। जिसके कारण आजादी के बाद से ही दोनों देशों का संबंध मधुर नहीं हो सका है। इधर हाल के वर्षों में दोनों देशों के संबंध में सुधार के नवीन प्रयास किए जा रहे हैं। दोनों देशों के बीच रेल एवं बस परिवहन का आवागमन शुरू हो गया है। राजनयिक प्रयास के माध्यम से दोनों देशों के बीच नए संबंधों की स्थापना के लिए नए प्रयास किए जा रहे हैं।

नोट

16.5. धर्मनिरपेक्षता के कारक (Factors of Secularization)

भारत में धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने वाले निम्नलिखित कारक हैं--

1. पश्चिमीकरण--धर्मनिरपेक्षता को बढ़ाने में पश्चिमीकरण ने योगदान दिया है। अंग्रेजों के 150 वर्ष के शासन काल में यह पश्चिमीकरण प्रभावी रहा। इसमें नई प्रौद्योगिकी यातायात, संचार, डाक तार, रेल, शिक्षा, नवीन ज्ञान, विश्वास और मूल्यों का प्रभाव पड़ा जिससे भारत में धर्म का प्रभाव कम हुआ तथा भोगवाद, व्यक्तिवाद और भौतिकवाद को बढ़ावा मिला।

2. नगरीकरण तथा औद्योगीकरण--धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया नगरों में ही अधिक देखने को मिलती है क्योंकि नगरों में ही औद्योगीकरण, शिक्षा, संचार, रेल, प्रौद्योगिकी गाँवों की अपेक्षा अधिक पाए जाते हैं जिनमें विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं के लोग साथ-साथ काम करते हैं। इससे उनमें धार्मिक कट्टरता समाप्त होकर तार्किता और वैज्ञानिकता का विकास होता है।

3. यातायात तथा संचार के विकसित साधन--प्राचीन समय में संचार के साधनों का अभाव था इसलिए उनमें गतिशीलता नहीं पाई जाती थी। अन्य धर्मों और संप्रदायों के संपर्क में न आने के कारण वे धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वासों से घिरे रहते थे। परंतु यातायात और संचार के साधनों के विकसित हो जाने से उनमें गतिशीलता बढ़ी तथा व्यक्ति अन्य धर्मों, जातियों, प्रजातियों के लोगों के संपर्क में आए तथा धार्मिक कट्टरता कम हुई तथा समानता की धारणा पनपी।

4. आधुनिक शिक्षा प्रणाली--आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने धर्मनिरपेक्षता को बढ़ाने के लिए सहयोग दिया है। प्राचीन शिक्षा में धर्म की प्रधानता थी और शिक्षा केवल द्विज जातियों तक ही सीमित थी किंतु आधुनिक शिक्षा सभी के लिए समान रूप से खुली है।

5. धार्मिक एवं समाज सुधार आंदोलन--भारत में धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए अनेक आंदोलन चलाए गए। उनके साथ स्वामी विवेकानंद, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महात्मा गाँधी, केशवचंद्र सेन। सैयद अहमद खाँ, रानाडे आदि के नेतृत्व में अनेक सुधार कार्यक्रम चले। इन सभी के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय समाज में छुआछूत, जाति-पाँति का भेद-भाव, कट्टरता, धार्मिक अंधविश्वास आदि में कमी हुई।

6. सरकारी प्रयत्न--भारत में धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने में सरकार द्वारा विभिन्न समयों पर बनाए गए विधानों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जैसे--जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम 1850, हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856, विशेष विवाह अधिनियम 1954, हिंदू विवाह अधिनियम 1955, अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1955 आदि के द्वारा हिंदुओं के परंपरागत धर्म, विवाह और छुआछुत संबंधी विचारों में परिवर्तन हुए। नए संविधान द्वारा देश के सभी नागरिकों को समान मौलिक अधिकार प्रदान किए गए।

7. राजनीतिक दल--भारत में राजनीतिक दलों ने भी धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा दिया है। भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस पार्टी के सभी जाति और धर्मों के व्यक्ति सदस्य थे। समाजवादी नेताओं ने भी धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा दिया है।

8. धार्मिक भिन्नता--भारत में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध सभी धर्मों के लोग साथ-साथ रहते हैं, इसलिए भारत में धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार किया है। उससे सभी धर्मों के मानने वालों में सद्भाव और उदारता पैदा हुई जिससे धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा मिला।

विकासशील देशों में भारत ही एक ऐसा देश है जिसने धर्मनिरपेक्षता को सरकार की नीति और कार्यक्रमों का निर्देशक सिद्धांत माना है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता कोई बौद्धिक अवधारणा नहीं है और न हीं इसकी उत्पत्ति सैद्धांतिक और वैचारिक उहापोह में से हुई है। इसने स्वतंत्रता संग्राम के उन नेताओं और असंख्य अज्ञात भारतवासियों के बलिदान से भौतिक शक्ति और नैतिक बल प्राप्त किया जो गंभीर घड़ी में भी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद की राह से डिगे नहीं। इस प्रकार के त्याग व संघर्ष के इतिहास ने ही भारत में धर्मनिरपेक्ष परंपरा के रूप को गढ़ा है।

नोट

इसमें कोई शक नहीं कि धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत पश्चिमी विचारकों और सुधारकों के चिंतन का फल है। भारत इस दृष्टि से पश्चिमी जनता का ऋणी है। परंतु भारत ने धर्मनिरपेक्षता का विचार ब्रिटिश उपनिवेशवाद से नहीं लिया। उपनिवेशवादी सरकार का धर्मनिरपेक्षता से कोई वास्ता नहीं था वह तो फूट डालो और राज करो की नीति अपनाकर एक धर्म को दूसरे धर्म से लड़ाने की कला में सिद्धहस्त थी। इसके अलावा उसने भारतीय शिक्षा व संस्कृति को भी धर्मनिरपेक्षता की राह पर चलने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। भारत के प्रगति विरोधी वर्गों का साथ देकर उपनिवेशवादी शासन ने भारतीय समाज को धर्मनिरपेक्ष स्वरूप धारण करने में सदा बाधा पैदा की।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की धारणा का सूत्रपात करने का श्रेय पश्चिमी विचारधारा में पले उन भारतीयों को जाता है जिन्होंने इग्लैंड की औद्योगिक तथा फ्रांस की राजनीतिक क्रांतियों से प्रेरणा प्राप्त की है। धर्मनिरपेक्षता का विचार भारत में उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष और देश में जातियों, धर्मों तथा भाषाओं की विविधता को देखते हुए एक राष्ट्र की पहचान करने के प्रयासों के फलस्वरूप ऐतिहासिक परिस्थितियों में से उभरा है।

भारत में धर्मनिरपेक्ष प्रक्रिया का विकास विशेषकर धर्म के कुछ पोंगापंथी और पुरातनवादी तत्त्वों के विरुद्ध बौद्धिक संघर्ष के रूप में नहीं हुआ। धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पहलू धर्म के भीतर ही प्रगतिशील और प्रगति विरोधी तत्त्वों के बीच संघर्ष रहा है। धर्म के भीतर धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया मध्यकाल में ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म के बीच तथा धार्मिक और सामाजिक कट्टरता की शक्तियों और भक्ति आंदोलन से प्रेरित सामाजिक मुक्ति की शक्तियों के बीच संघर्ष में देखी जा सकती है। आधुनिक युग में विवेकानंद और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषों के नेतृत्व में धर्मनिरपेक्षता के आंदोलन के उदय में भी यही बात दिखलाई पड़ती है।

देश के समझदार संवेदनशील लोग धर्मनिरपेक्षता के लिए हाल में तेजी से बढ़ते खतरों से चिंतित व क्षुब्ध हैं। प्रश्न उठता है कि धर्मनिरपेक्षता के लिए हाल में तेजी से बढ़ते खतरों से चिंतित व क्षुब्ध हैं। प्रश्न उठता है कि धर्मनिरपेक्ष और एकीकृत, भारत की जो कल्पना संविधान में की गई है, उसमें और भारतीय धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप के क्रमिक ह्रास की चिंताजनक स्थिति के बीच यह दूरी क्यों है? यह देखकर दुख होता है कि सामान्य लोग धर्मनिरपेक्ष विरोधी विचारधाराओं से भ्रमित हो रहे हैं। इससे भी अधिक चिंतनीय बात यह है कि भारत का संभ्रांत वर्ग भी धर्मनिरपेक्षता की चुनौती के व्यापक आयामों के प्रति सचेत नहीं है। उसने इस धर्मनिरपेक्ष धारणा को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में परिवर्तन लाने के नीति निर्देशकों में बदलने के लिए देश में उपलब्ध सभी साधनों को नहीं जुटाया है। बुद्धिजीवियों में धर्मनिरपेक्ष तत्त्वों और सामान्य लोगों में परस्पर संपर्क का अभाव है जिसका परिणाम यह होता है कि आमलोग धर्मनिरपेक्षता विरोधी ताकतों की विचारधारा से प्रभावित होते रहते हैं तथा धर्मनिरपेक्ष शक्तियों द्वारा इस संदर्भ में कुछ नहीं किया जाता।

अतः यह कहा जा सकता है कि Secularization अथवा धर्मनिरपेक्षता जैसे कारकों का भारतीय संविधान में समावेश करना जरूरी था क्योंकि यहाँ विभिन्न धर्मों और जातियों के लोग निवास करते हैं। अतः इस सूत्रयामी धर्मनिरपेक्षता के द्वारा इन विविध धर्मावलंबियों को एक सूत्र में पिरोना आवश्यक था, ताकि राष्ट्रीय एकता कायम की जा सके। साथ ही साथ यदि धर्मनिरपेक्षता के बल पर राष्ट्रीय एकता प्राप्त करनी है तो उसे ऐसा जड़ सिद्धांत नहीं बने रहने देना चाहिए। जिससे केवल धर्म सहिष्णुता के परिपालन पर बल दिया जाता है। इसे एक गतिशील विचार बनाना होगा जिसमें असमानता मिटाने की दिशा में सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन की धारणा भी सम्मिलित हो।

एस.आर बोंबई बनाम भारत संघ, ए.आई.आर 1994 एस.सी. 1918 में उच्चतम न्यायालय ने संविधान में पंथ निरपेक्षता के मूल तत्त्व पर सविस्तार चर्चा की और भाजपा शासित तीन राज्यों में बाबरी मसजिद गिराए जाने के बाद राष्ट्रपति शासन लगाए जाने को उचित ठहराया। सेंट जेवियर कॉलेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 1974 में निर्णय दिया कि भले ही संविधान में पंथनिरपेक्ष राज्य की बात नहीं कही गई है, फिर भी इस विषय में कोई संदेह नहीं कि संविधान निर्माता इसी तरह का राज्य स्थापित करना चाहते थे।

संविधान में एक ऐसी पंथनिरपेक्षता की व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया जिसके अंतर्गत बहुसंख्यकों को राज्य की ओर से कोई विशेष अधिकार नहीं दिए गए या उन्हें कोई प्राथमिकता पाने का अधिकार नहीं दिया गया और अल्पसंख्यक के धार्मिक अधिकारों को अनेक प्रकार के संरक्षण प्रदान किए गए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में पंथ निरपेक्षता का जन्म चर्च तथा राज्य के परस्पर संघर्ष के कारण नहीं हुआ। इसकी जड़ें भारतीय संस्कृति एवं प्रकृति में पहले से ही विद्यमान थी। अतः यह भारत को विरासत के रूप में मिला है। श्री एम.सी. सीतलवाड़ का भी यही विचार था कि पंथ निरपेक्ष राज्य के अधीन सभी नागरिकों के साथ एक-सा व्यवहार होना चाहिए तथा उनके धर्म के कारण उनके साथ भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए।

छात्र क्रियाकलाप

1. धर्मनिरपेक्षता के विरोधी घटक कौन-कौन से हैं?

2. भारत में धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने वाले कौन-कौन से कारक हैं?

नोट

16.6. सारांश (Summary)

धर्मनिरपेक्षता राजनीतिशास्त्र की एक जटिल अवधारणा है। आज का युग स्वतंत्रता और समानता का युग है। अतः धर्म के नाम पर अथवा धर्म के आधार पर नागरिकों में भेदभाव करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना आज के युग की पुकार है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ ही होता है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं हो और धर्म के आधार पर वह नागरिक-नागरिक के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता हो।

भारतीय संविधान के अनुसार भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। अर्थात् राज्य धर्म व जाति आदि के आधार पर किसी व्यक्ति अथवा संस्था को किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं करेगा।

Secularization शब्द Secular से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ *धर्मनिरपेक्ष* होता है *Chambers English Hindi Dictinary* में Secular का शाब्दिक अर्थ *सर्व धर्म समतापरक, धर्मनिरपेक्ष* तथा *असंप्रदायिक* बतलाया गया है। अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि वह नागरिकों को धर्म में विश्वास रखने पर रोक लगाने वाला होता है इसका वास्तविक अर्थ होता है धार्मिक मामलों में राज्य की तटस्थता।

डोनाल्ड यूजीन स्मिथ ने भारतीय संदर्भ में पंथ निरपेक्षता के बारे में लिखा है कि *"पंथ निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा समवेत स्वतंत्रता प्रदान करता है, संवैधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है और जो धर्म का न तो प्रचार करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है।"*

16.7. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. धर्मनिरपेक्षता से आप क्या समझते हैं? उसके प्रमुख तत्त्वों का वर्णन करें।
2. भारतीय संविधान में वर्णित धर्मनिरपेक्षता का वर्णन करें।
3. भारत जैसे विकासशील देश में धर्मनिरपेक्षता के महत्त्व पर प्रकाश डालें।
4. "भारत विविधता में एकता बनाए हुए है" वर्णन करें।
5. भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है? कैसे?

□□□